ॐ श्री परमात्मने नमः

चतुर्दश अध्याय

गीता का चतुर्दश अध्याय त्रयोदश अध्याय का ही पूरक है। पिछले अध्याय में भगवान ने तत्व ज्ञान का जो उपदेश दिया उसमें एक तो बताया गया क्षेत्र या प्रकृति और दूसरा बताया गया क्षेत्रज्ञ पुरुष। इस देह को क्षेत्र बताया जो प्रकृति से उत्पन्न हुआ है और हमारा सत्य स्वरूप क्षेत्रज्ञ बताया यानी क्षेत्र को जानने वाला न कि क्षेत्र को भोगने वाला। यह तो अज्ञान के कारण क्षेत्र के साथ हमारी झूठी तादात्म्यता हो जाती है जिसके कारण हम भोक्ता बन जाते हैं और शरीर के सुख दुःख को भोगते है यानी शरीर को सुख मिलता है तो अपने को सुखी समझते हैं और दुख मिलता है तो अपने को दुखी समझते हैं। यदि ज्ञान हो जाएं, देह से तादात्म्यता छूट जाए तो हम भोक्ता न हो कर द्रष्टा बन जाएंगे अर्थात अपने सत्य स्वरूप में स्थित हो जाएंगे। तब सारे सुख-दुख के बन्धन छूट जाएंगे। सारांश यह है कि किसी उपाय से यदि हम देह और आत्मा को पृथक कर पाएं तो हम स्वतंत्र हो जाएंगे। देह रूपी वस्तु को जीत लें तो हम पर कौन सत्ता चला सकता है! जो अपने आप पर राज करता है वह विश्व का सम्राट हो जाता है।

देह और आत्मा को अलग-अलग करने के दो साधन हैं एक विवेक दूसरा निग्रह। विवेक तो पिछले अध्याय में बताया। हम ज्ञान के द्वारा, विचार के द्वारा, अच्छी तरह चित्त में यह धारण कर लें कि 'मैं देह नहीं आत्मा हूं, मैं भोक्ता नहीं द्रष्टा हूं।'

दूसरा उपाय अर्थात् निग्रह भी साथ-साथ चलना चाहिए, जिसका विवेचन भगवान इस चौदहवें अध्याय में करेंगे। निग्रह का अर्थ है प्रकृति को वश में कर लेना, उसे पराजित कर देना।

अब प्रश्न यह उठता है कि प्रकृति द्वारा निर्मित इस देह को जीता कैसे जाए? यदि हम शत्रु पर विजयी होना चाहते हैं तो हमें शत्रु की पहचान ठीक-ठीक करनी होगी। वे कौन हैं, कितने हैं, कैसे हैं, कैसी-कैसी चालें

चलते हैं, उनकी क्या-क्या कमजोरियां हैं, क्या-क्या लक्षण हैं यानी कैसे उन्हें पहचाना जा सकता है। यह सब अच्छी तरह अलग-अलग समझ लें तो हम अपनी चाल सुनिश्चित कर सकते हैं। पिछले अध्याय में इतना तो बताया गया था कि देह प्रकृति द्वारा निर्मित है और प्रकृति त्रिगुणात्मिका है अर्थात् सत्व रजस तमस इन तीन गुणों से बनी है। इस अध्याय में अब इन तीनों शत्रुओं को अच्छी तरह पहचान कराई जाएगी। उनके लक्षण, उनकी चालें, उनकी कमजोरियां आदि बताई जाएंगी।

राजनीति शास्त्र कहता है कि शत्रु को जीतने का सबसे सरल तरीका है शत्रु दल में विभाजन करना। भगवान भी इसी फूट डालो और राज करो की शैली में चल रहे हैं। इसीलिए इस अध्याय का नाम गुणत्रय विभाग योग है। तीनों गुणों को अलग-अलग समझ कर उन्हें आत्मा से पृथक् करेंगे। वे कैसे बन्धन में डालते हैं यह पहचान कर लेंगे तो फिर आगे सावधानी बनी रहेगी। हम इनके चक्कर में फंसेंगे नहीं। निग्रह द्वारा एक एक को जीत कर अन्त में मुख्य द्वार तक पहुंच ही जाएंगे। इस अध्याय में हम समझेंगे कि कैसे प्रकृति हमें वश में कर भांति-भांति के कार्य कराती है, कैसे हमारा मूड बदलता रहता है और हम मूढ की भांति व्यवहार करते हैं। इन बदलते मूड में हमारा व्यवहार कैसा होना चाहिए यह सब जानना समझना बहुत जरूरी है। तभी हम अपने में सुधार ला पाएंगे। यदि हम इस मशीनरी को अच्छी तरह समझेंगे नहीं तो इससे ठीक-ठीक काम कैसे ले पाएंगे! हमारी स्थिति तो सेल्फ ड्राइविंग करने वाले युवक की होगी जो जरा सी खराबी आ जाते ही सड़क पर खड़ा हो जाता है और इधर उधर ताकता है कि कोई जानकार आकर उसकी गाड़ी के इंजन की गड़बड़ी दूर कर दे। ऐसे व्यक्ति की यात्रा सुखमय नहीं हो सकती। इसके विपरीत यदि उसे इंजन के कल पुर्जों और कार्य प्रणाली का पूरा ज्ञान हो तो उसका आत्म विश्वास बना रहेगा। जरा सी गड़बड़ी का आभास पाते ही वह गाड़ी किनारे खड़ी कर बोनट खोलेगा और उसे सुधार लेगा। उसकी गाड़ी फिर फर्राटे से दौड़ने लगेगी।

गीता का गुणत्रय विभाग योग नामक चतुर्दश अध्याय हमें अपने मन रूपी इंजन का ऐसा ज्ञान कराता है कि साधना का पथ क्लेश रहित हो जाता है। यह अध्याय प्रत्येक साधक के लिए बहुत ही महत्व का है।

श्री भगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ।।१।।

मैं फिर से ज्ञानों में उत्तम ज्ञान को बताऊंगा जिसे जान कर सभी मुनि इस जीवन के अंत में परमसिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं।

इस श्लोक में भूयः शब्द का व्यवहार किया गया है जिसका अर्थ है फिर से। अर्थात् भगवान् इस अध्याय में कोई नई बात नहीं कहने जा रहे वही कह रहे हैं जो पहले भी कई बार कह चुके हैं।

यही तो विशेषता होती है कुशल गुरु की। वह एक ही बात को बार-बार अलग-अलग तरीकों से समझाता है जब तक बात शिष्य के दिल की गहराई तक न पहुंच जाए। यदि शिष्य को समझ न आया हो और गुरु को लगने लगे कि अब और कैसे समझाऊं तो समझिए कि गुरु फेल हो गए। भगवान को तो तत्व ज्ञान दे कर अर्जुन का मोह दूर करना था ताकि वह युद्ध के लिए फिर से दहाड़ उठे। जब तक ऐसा नहीं होता वे तरह-तरह से समझाएंगे। गीता का हर अध्याय अपने आप में एक-एक विद्या है जो परम ज्ञान का निरूपण करती है, परमसिद्धि की राह दिखाती है। बारह अलग-अलग तरीके से समझा देने के बाद भगवान कह रहे हैं कि श्रेष्ठतम ज्ञान को मैं फिर से कहूंगा।

वैसे तो इस अध्याय में सत्व रजस तमस इन तीन गुणों के लक्षण आदि बताए गए हैं जिसे सर्वश्रेष्ठ ज्ञान तो नहीं कह जा सकता लेकिन फिर भी इसे ज्ञानमुत्तमम् कहने का तात्पर्य यही हैं कि ज्ञान की प्राप्ति के लिए तीनों गुणों का ज्ञान भी अत्यंत आवश्यक है, इसके बिना साधना के पथ पर चलना असम्भव प्रायः है।

भगवान कहते हैं कि इस ज्ञान को प्राप्त कर मुनिजन परम सिद्धि के अधिकारी हो जाते हैं! स्मरण रहे कि मुनि का अर्थ जटाधारी साधु नहीं होता। मुनि का अर्थ है मनन करने वाला। साधना के तीन चरण होते हैं श्रवण, मनन और निदिध्यासन। पहले गुरु के मुख से श्रवण कर ज्ञान प्राप्त किया

जाता है फिर प्राप्त ज्ञान पर मनन करना पड़ता है और तब जीवन में उतारा जाता है जिसे निदिध्यासन कहते हैं। सिद्धांत और व्यवहार के बीच की कड़ी है मनन। यह मनन ही हमारा जीवन बदल देता है। सुनने मात्र से कुछ नहीं होता। जब मनन करते हैं तभी अन्तःकरण में बात बैठती है। तब व्यक्ति वह नहीं रह जाता जो पहले था। ऐसा लगता है कि उसने नया जीवन पा लिया है। परिस्थितियों को देखने समझने की दृष्टि बदल जाती है, विचार करने का ढ़ंग बदल जाता है, संसार के साथ व्यवहार बदल जाता है, अपने स्वयं के प्रति भी उसके जो विचार रहते हैं वे भी बदल जाते है अब तक जो अपने को कर्ता-भोक्ता समझता था वह अब आत्म-स्वरूप समझने लगता है। यही परमसिद्धि की अवस्था है जो नव जीवन प्रदान करती है।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ।।२।।

इस ज्ञान का आश्रय लेकर मनुष्य मेरी साधर्म्यता को प्राप्त करता है। वह न सर्ग अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति काल में जन्मता है न प्रलय काल में व्यथित होता है।

हम हैं साधारण जीव। क्षण-क्षण मरते हैं, घड़ी-घड़ी जीते हैं। जरा सी चोट लगी-'अरे मर गए।' थोड़ा सा नुकसान हुआ-' हाय-हाय मर गए।' व्यथा का अंत नहीं हमारा। और जितनी बार सिर पटकते हैं उसके कम बार उछल कूद नहीं मनाते। विवाह होता है तो लगता है 'वाह! दुनिया ही बदल गई।' बच्चा होता है तो फिर 'वाह! दुनिया ही बदल गई।' धन मिलता है तब भी दुनिया बदल जाती है। न जाने कितनी बार नई-नई दुनिया बनती बिगड़ती है हमारे लिए। कितनी बार जान आती है कितनी बार मरते-मरते बचते हैं। सुख-दुःख के थपेड़े खाते हमारा जीवन चलता रहता है।

दूसरी ओर सच्चिदानंद भगवान हैं। कैसी भी स्थिति आ जाए, उनके ओठों की मुस्कान जाती नहीं। कल्पना करें उस स्थिति की जब किसी से तंग आकर रातों-रात आपको अपना शहर छोड़ कर जान पड़े। कल्पना करें उस स्थिति की जब एक महत् कार्य की सारी तैयारियां हो गई हो और उस

कार्य को सम्पादित करने वाला मुख्य व्यक्ति ऐन वक्त पर कह दे कि मैं यह काम नहीं करूंगा। कल्पना करें उस पिता की जिसके पुत्र इतने उच्छृंखल हो गए हों कि शराब के नशे में भाई-भाई एक दूसरे को जान से ही मारने पर उतारू हो गए हों। श्री कृष्ण मथुरा त्याग कर द्वारका बसते हैं, अर्जुन को युद्ध भूमि में उपदेश देते हैं, अपने पुत्रों का वध स्वयं अपने हाथ से कर निर्मोह और निर्ममत्व का प्रचण्डतम उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। किन्तु इनके चेहरे की प्रसन्नता कभी लुप्त नहीं होती। राम को पहले दिन बताया जाता है कि राज्याभिषेक होगा, दूसरे दिन वन में ही भेज दिया जाता है। दोनों घटनाओं में उनके चित्त की स्थिति बदलती नहीं। न वे पहले दिन मित्रों को बुलाकर 'ट्रीट' देते हैं न दूसरे दिन विमाता को बुरा भला कहते हैं। जिन दिनों सीता की याद में आंसू बहाते थे उन्हीं दिनों शबरी को नवधा भक्ति का उपदेश भी देते हैं। आंसू केवल आंखों से निकलते हैं उनके। मात्र एक शारीरिक क्रिया होती है वह! अन्तःकरण उनका वैसे ही शान्त और स्थिर रहता है।

भगवान कहते हैं कि जीवन में तो सर्ग और प्रलय यानि आज कुछ और कल कुछ और होता ही रहेगा लेकिन यदि तुम इस अध्याय में बताए गए ज्ञान को धारण कर लोगे अर्थात् मन की प्रत्येक चाल को पहचान कर सावधान रहना और अपने कर्तव्य को सुनिश्चित करना सीख जाओगे तो तुम मुझसे साधर्म्यता प्राप्त कर लोगे यानि मरा रे! बचाओ रे! कह कर रोने पीटने वाले जीव न रह कर मेरी तरह स्थितप्रज्ञ हो जाओगे।

इस प्रकार विज्ञापन पूरा होता है और वास्तविक कथा आरंभ होती है। सबसे पहले तो भगवान बताते हैं कि संसार में हम जो भिन्न-भिन्न प्रकार के प्राणी देखते हैं उनकी उत्पत्ति कैसे होती है।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ।।३।।

महद् ब्रह्म मेरी योनि है जिसमें मैं गर्भ स्थापित करता हूं जिससे सभी भूतों की उत्पत्ति होती है।

ब्रह्माण्ड की सृष्टि स्थिति और लय के विषय में उपनिषदों में अत्यंत

विस्तार से बताया गया है। हम जो कुछ भी बनाते हैं, रखते हैं, बिगाड़ते हैं उसका कारण हमारी वासनाएं हैं जिन्हें वेदान्त में कारण शरीर कहा गया है। किन्तु केवल वासनाएं कुछ नहीं कर सकती जब तक जीवन तत्व न हो। वासना रूपी योनि में ब्रह्म रूपी बीज जब पड़ता है तो हमारे व्यक्तित्व का निर्माण होता है। इसी प्रकार समष्टि वासना सारे संसार की सृष्टि स्थिति लय का कारण है और ब्रह्म जब समष्टि वासना रूपी योनि में बीज रूप बनता है तो समस्त प्राणियों की रचना होती है। इसे ही यहां महत् ब्रह्म कहा गया है। यह सारा प्रकरण मांडूक्य उपनिषद और कारिका में अत्यन्त विस्तार से बताया गया है।

यहां तो संक्षेप में इतना समझ लें कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों प्रकृति के ही दो विभाग हैं। दोनों के उद्भव विकास आदि का मूल स्त्रोत परमात्मा है। परमात्मा जब क्षेत्र में स्थापित होकर कार्य करता है तो जीव भाव की उत्पत्ति होती है। क्षेत्र के साथ उसकी पूरी तादात्म्यता होती है किन्तु जब क्षेत्रज्ञ अपने को क्षेत्र से अलग कर लेता है और यह तादात्म्यता समाप्त हो जाती है तब परमात्म भाव की उत्पत्ति होती है। तब वह जीव नहीं रहता, शिव हो जाता है।

भगवान बताते हैं कि केवल मनुष्यों में ही नहीं, संसार में जितने जड़ चेतन रूप दिखाई पड़ते हैं सबमें तत्व रूप से मैं ही हूं।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ।।४।।

हे कौन्तेय, सभी योनियों में जितनी भी मूर्तियां उत्पन्न होती हैं उन सबकी महत् योनि ब्रह्म है और मैं बीज देने वाला पिता हूं।

प्रस्तुत श्लोक पिछले का ही पूरक है। केवल मनुष्य ही नहीं संसार में जितनी भी योनियां है, हर योनि में जितने भी रूप दिखाई पड़ते हैं उनमें तात्विक दृष्टि से कोई भिन्नता नहीं है। सबकी योनि वही महत् ब्रह्म है, सबका बीजदाता वही परमेश्वर हैं।

इसके पहले नवें अध्याय में भी भगवान ने कहा था- पिताहमस्य जगतः माता धाता पितामह, अर्थात् वे ही पिता है, वे ही माता भी हैं। यहां उन्होंने स्पष्ट कर बताया है कि चूंकि प्रकृति से ही सारी मूर्त्तियां अर्थात् जड़ चेतन दृश्यमान स्वरूप उत्पन्न होते हैं अतः उसे योनि मानना चाहिए और चूंकि प्रकृति अकेले कोई रूप ले या बदल नहीं सकती जब तक उसमें परमात्मा का जीवनरूपी तत्व समाविष्ट न हो, अतः परमात्मा को पिता समझना चाहिए जो चेतना रूपी बीज डालकर प्रकृति को क्रियाशील बनाता है।

इतने विवेचन के बाद प्रश्न यह उठता है कि जब सभी प्राणियों की योनि भी एक है, बीज भी एक है तब उनमें अंतर होना ही नहीं चाहिए। किन्तु हम तो विभिन्न योनियों के पशु पक्षी मानव आदि में तो अंतर देखते ही हैं, एक योनि में भी दो मूर्तियां एक जैसी नहीं होती। यह अंतर कहां से आया? परमात्मस्वरूप होने के बाद भी मनुष्य उनके अव्ययीभाव को न धारण कर क्षण-क्षण बदलता क्यों रहता है? इसी का स्पष्टीकरण भगवान करते हैं।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ।।५।।

सत्व रजस और तमस ये तीन गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं और देही को देह के साथ बड़ी तेजी के साथ बांधा लेते हैं।

भगवान कहते हैं कि यद्यपि सभी भूत प्रकृति और पुरुष के संयोग से उत्पन्न हैं किन्तु पुरुष जहां अविनाशी, अव्यय है वहीं प्रकृति के साथ ऐसा नहीं। वह परिवर्तनशील है। प्रकृति की परिवर्तनशीलता को स्पष्ट बताने के लिए हमारे ऋषियों ने इसकी विभिन्न विशेषताओं को तीन भागों में विभाजित किया है- सत्व, रजस और तमस। इसीलिए प्रकृति को त्रिगुणात्मिका कहा गया है। इन तीनों गुणों की अलग-अलग विशेषताएं हैं जिसके ऊपर बड़े विस्तार से भगवान प्रकाश डालेंगे ताकि हम अपने बहिःकरण और अन्तःकरण पर होने वाले इनके प्रभाव को खूब अच्छी तरह समझ जाएं और इनकी पहचान करना सीख जाएं।

इस श्लोक में तो भगवान यही कह रहे हैं कि ये तीनों गुण अव्यय पुरुष को देह के साथ कस कर बांध लेते हैं। इस बंधन के कारण पुरुष भूल जाता है कि वह अव्यय, अविनाशी, चिन्मय है। वह अपने को देही अर्थात् देह का स्वामी नहीं मान पाता।

हम प्रतिदिन जिस कुर्सी पर बैठ कर लिखते-पढ़ते हैं उस कुर्सी को अपनी वस्तु मानते हैं। अपने को उसका स्वामी मानते हैं। कुर्सी हमारे उपयोग की वस्तु है। यही सम्बन्ध है हमारा और जब हम इस नाते उसकी झाड़ पोंछ साफ-सफाई करते हैं तो उसी में खो कर दीन दुनिया या अपने आप को भुला नहीं डालते। यदि कुर्सी लुढ़क जाती है तो हम उसके पीछे पागल नहीं हो जाते। पर यदि हमें उस कुर्सी के साथ कस कर बांधा दिया जाए तो कुर्सी की सुरक्षा हमारे लिए टेंशन का विषय हो जाएगी। उसे जरा भी कोई हिलाएगा तो हम गिरने के भय से 'मरा रे, बचाओ रे,' करने लगेंगे, क्योंकि अब हम कुर्सी के स्वामी नहीं रहे, कुर्सी के साथ एक रूप हो गए हैं।

बंधन जब दीर्घकालीन हो जाता है तो व्यक्ति अपना वास्तविक स्वरूप एकदम ही भुला बैठता है। सालों से पिंजरे में रहने वाले पक्षी का पिंजरा खोल दिया जाए तब भी वह नहीं उड़ेगा क्योंकि वह तो भूल ही बैठा है कि उसके पास पंख है, उसके पास उड़ने की वह क्षमता है जो उसे इसी क्षण पिंजरे से मुक्त करा सकती है। उस पिंजरे की उसे ऐसी आदत हो गई है कि स्वयं उसमें बंधन नहीं सुरक्षा समझने लगता है और इस प्रकार अपनी मुक्ति से स्वयं को वंचित कर लेता है।

गुण का अर्थ रस्सी होता है। तीन प्रकार की डोरियां है जो हमें इस शरीर से बांधे हुए है। गीता माता कहती है- 'मेरे प्यारे बच्चों, तुम इन डोरियों को काट डालो। तुम्हारे में अद्‌भुत क्षमता है, उसे पहचानो। इनसे अपने आपको मुक्त करो।' लेकिन हमें इन बंधनों की ऐसी आदत पड़ गई है कि हम इनके बिना रहने की कल्पना भी नहीं कर पाते।

हमारा मन कभी बड़ा शांत और प्रसन्नचित रहता है, कभी हम छटपटाहट का अनुभव करते हैं। उस समय शांत नहीं बैठ पाते। कुछ न कुछ करने की तीव्र इच्छा होती है, महत्वकांक्षाएं जागती है और हम उन्हें पूरा करने के प्रयास में जी जान से जुट जाते हैं। फिर कभी थकान और उदासीनता हमें

घेर लेती है और हम चुपचाप पड़ जाते हैं, सो जाते हैं। अब इसमें अस्वाभाविक क्या है? सभी के साथ सभी समय ऐसा तो देखते हैं अतः हम सोचते हैं कि यही तो है जीवन। मनुष्य जीवन लिया है तो कभी शांति होगी कभी अशांति, कभी काम करने का मन होगा कभी नहीं। इसी तरह जीना ही पड़ेगा हमें। कभी हंसेंगे कभी रोएंगे, जैसे ऊपरवाला रखेगा वैसे ही रह लेंगे।

भगवान कहते हैं कि अपने इन बदलते मूड में बहो मत, इन्हें अच्छी तरह समझ लो । इनका आना-जाना रुकेगा नहीं लेकिन तुम इन्हें किस तरह स्वीकार या अस्वीकार करते हो यह तुम्हारा विवेक है। इसी विवेक को भगवान जगाना चाहते हैं और पहला सूत्र यह देते हैं कि इन तीनों गुणों का अपना स्वरूप मत मानो इन्हें अपना बंधन मानो। जब तक शत्रु को हम शत्रु नहीं समझेंगे तब तक उस पर विजय की अभिलाषा ही कैसे जागेगी?

अब भगवान बताएंगे कि सत्व रजस तमस की ये डोरियां मनुष्य को कैसे कैसे बांधाती हैं-

तत्र सत्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम् ।
सुख संगेन बध्नाति ज्ञान संगेन चानघ ।।६।।

हे निष्पाप अर्जुन! उन गुणों में सत्वगुण निर्मल होने के कारण प्रकाश रूप तथा विकार रहित है। वह सुख और ज्ञान की आसक्ति से देही को बांधता है।

भगवान ने इस श्लोक में सत्वगुण की थोड़ी सी पहचान करा दी। गुणों को परिभाषित नहीं किया जा सकता पर जैसे हम लक्षणों के आधार पर रोग को पहचानते हैं वैसे ही लक्षणों से इन गुणों को भी पहचान सकते हैं।

सत्व गुण को निर्मल बताया गया है। रजोगुण तमोगुण तो भांति भांति की इच्छाओं, कामनाओं, राग, द्वेष, लोभ, मोह आदि के मल से मन को मलिन करते हैं लेकिन सत्वगुण में ये विकार नहीं होते अतः इसे निर्विकार और निर्मल बताया गया है। जब हम राग, द्वेष, लोभ, मोह आदि के प्रभाव में

रहते हैं तब तो मन की स्थिति क्षण क्षण बदलती रहती है- 'वह समझता क्या है अपने आप को? आ जाए!' और फिर अगले ही क्षण सोचते हैं- 'लेकिन वह जो हर माह मुझे बैठे बिठाए पांच सौ रुपए देता है उसका क्या होगा? नहीं! उससे बैर प्रदर्शित करना ठीक नहीं। उसे तो खुशामद से वश में करना होगा। टेढ़ी उंगली से घी निकालना होगा' इत्यादि सैकड़ों संकल्प विकल्प उठते रहते हैं। कभी हम अपनी हथेली पर मुक्का मारते कमरे में इधर उधर टहलते हैं कभी निढाल होकर बिछौने पर पड़ जाते हैं- 'कुछ नहीं हो सकता, कुछ भी नहीं हो सकता। मेरी समझ में तो कुछ नहीं आ रहा।' इस प्रकार राग द्वेष लोभ का मल हमारी बुद्धि को ढंक लेता है। बुद्धि उस प्रकार देख नहीं पाती जिस प्रकार उसे देखना चाहिए अतः मन चंचल होता रहता है।

लेकिन कभी कभी जब हमारा मन बड़ा शांत रहता है तो हम परिस्थितियों का सही सही आकलन कर पाते हैं, उसके अनुसार अपनी कार्य पद्धति सुनिश्चित कर पाते हैं। उस समय हम जो कुछ भी कर रहे होते हैं उसमें सुख मालूम देता है। बड़ी बड़ी समस्याएं भी ऐसे समय में हम आसानी से हल कर लेते हैं। अपनी प्रयोगशाला में दीन दुनिया भुला कर प्रयोग कर रहे वैज्ञानिक या कला के सृजन में डूबे कलाकार की यही स्थिति होती है। इसमें विषयों से मिलने वाला मजा न होते हुए भी अपार सुख का अनुभव होता है, तभी तो ये वैज्ञानिक और कलाकार अपनी सामान्य जरूरत, खाने पीने सोने तक की उपेक्षा कर जाते हैं, पारिवारिक सुख की भी उन्हें परवाह नहीं होती।

अब यदि तमोगुण के आलस, रजोगुण की व्याकुलता के साथ सत्वगुण की तुलना करें तो हमें लगेगा कि यही तो सबसे उत्तम अवस्था है। कभी हम भजन करते हों, उस समय संसार के माया मोह कुछ समय के लिए सचमुच भुला पाएं तो हमें अपार सुख का अनुभव होगा। तब हमें संसार के सुखों की व्यर्थता का भी ज्ञान होगा। यह वह स्थिति है जिसकी एक झलक भी कभी कभी हमें मिलती है तो हमें इतना अच्छा लगता है कि इससे पीछा छुड़ाने की बात सोचने का सवाल ही कहां। हम तो तरसते हैं इसके लिए।

बस यहीं सत्वगुण की डोरी हमें बांध लेती है- सुख से, ज्ञान से। जब यह स्थिति चली जाती है तो हम सोचते हैं- 'हाय हाय, वैसा सुख सदा

क्यों नहीं बना रहता। मेरी बुद्धि सदा वैसी प्रखर क्यों नहीं बनी रहती।' सुख के लिए दुखी हो जाते हैं हम।

भगवान कह रहें हैं- सावधान, समझ लो कि यह बंधन है तुम्हारा। भले ही यह सोने की है, पर है जंजीर ही। सत्वगुण उत्तम है इसमें कोई शक नहीं पर बंधन में इसके भी नहीं पड़ना है तुम्हें। यह भी तुम्हारे अन्दर सुख और ज्ञान की कामना पैदा कर देता है। काम तो तुम्हारा सबसे बड़ा शत्रु है चाहे वह किसी भी रूप में आए।

सत्वगुण के बाद अब रजोगुण की पहचान कराते हुए भगवान कहते हैं-

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ।।७।।

हे कौन्तेय! रजोगुण को तुम रागस्वरूप समझो जो तृष्णा और आसक्ति को पैदा करता है। वह कर्मों की आसक्ति से शरीरधारी को बांधता है।

रजोगुण की मुख्य पहचान है राग। इसकी बहनें हैं आसक्ति और तृष्णा। जब हमें कोई वस्तु या व्यक्ति अच्छा लगता है यानी अपने शरीर या मन के लिए सुखदायक जान पड़ता है तो उसके प्रति जो हमारी भावना होती है उसे राग कहते है। राग कभी इकलौता नहीं रहता। तृष्णा और आसक्ति उसके पीछे-पीछे आती हैं। जिसके प्रति राग होता है उसे पाने की प्रबल कामना को तृष्णा कहते हैं। तृष्णा का शाब्दिक अर्थ है प्यास। जब हमें जोर की प्यास लगी हो तो हमें कोई दूसरा सुख कितना भी देना चाहे, बढ़िया-बढ़िया पकवान सामने लाए या सुंदर मधुर संगीत बजाए, हमें कुछ नहीं सुहाता। हमें तो पानी चाहिए। केवल पानी। और अभी इसी वक्त चाहिए। इसी प्रकार की भावना कभी-कभी हमारी दूसरी वस्तु या व्यक्ति के लिए भी हो जाती है-'यह मुझे अच्छा लगता है अत: मैं इसे पाकर रहूंगा, बस। चाहे जो हो जाए।' यही भावना तृष्णा है। और तृष्णा पूरी हो जाती है, वह वस्तु हमें मिल जाती है तो हम उसे सीने से लगाए रखना चाहते है, उसे सुरक्षित रखना चाहते है। कहीं कुछ

हानि न हो जाए इसकी चिंता में रहते हैं। यह तृष्णा की बहन आसक्ति है। राग, तृष्णा और आसक्ति, ये तीनों मिल कर फन्दा फेंकते है और हम फंस जाते हैं। यह फंदा है कर्म के प्रति आसक्ति का। हमें अपनी प्रिय किन्तु अप्राप्य वस्तु को पाना है, प्राप्य की सुरक्षा करनी है। ये दोनों बातें हमें इतनी महत्वपूर्ण लगती हैं कि हम रात दिन उसके प्रयत्न में जुटे रहते हैं। खून पसीना एक करके भी हम अपनी महत्वकांक्षाओं की पूर्ति करते हैं।

एक बड़े मजे की बात है- गीता के शब्द 'कर्मयोग' का बड़ा प्रचलित दुरुपयोग। समाज में हमें बहुत से लोग मिल जाएंगे जो सीना फुलाकर कहते है- 'हम कर्मयोगी हैं जी। कर्म में विश्वास करते हैं। कर्म ही हमारे लिए सब कुछ है। इससे ज्यादा महत्व हम किसी को नहीं देते। सुबह सात बजे दुकान खोलते हैं तो रात को आठ बजे बंद करने के बाद भी ग्यारह बजे तक हिसाब-किताब देखते हैं।' भले आदमी! अपनी महानता पर इतराने के पहले यह तो समझ लो कि कर्मयोगी का अर्थ कर्म करने वाला नहीं **निष्काम** कर्म करने वाला होता है। जरा अपने हृदय में झांक कर बताओ तो सही कि दिन के ये सोलह घंटे काम तुम करते किस लिए हो? तुम्हारे कर्म बड़े नाम, ऊंचे मकान के लिए है कि समाज के हित के लिए? ग्यारह घंटे दुकान खोलकर तुमने अपने कर्मचारियों का शोषण किया, उपभोक्ता को मूर्ख बनाया या किसी का कुछ हित भी किया?

तो ऐसा है रजो गुण का बंधन जो सत्वगुण की भांति सोने की जंजीर तो नहीं पर चमक इसमें भी है जो कभी-कभी यह भ्रम पैदा कर देती है कि यह बड़ा अच्छा है। इसे अपनाना चाहिए। इसे कभी नहीं छोड़ना चाहिए। इस बंधन के कारण देही यानी क्षेत्रज्ञ मैं कर्ता हूं, मैं भोक्ता हूं के विचार द्वारा देह से बंधकर देहजनित सुख-दुख भोगता है।

सत्वगुण और रजोगुण के बाद अब तमोगुण की पहचान कराते हुए भगवान कहते हैं-

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ।।८।।

हे भारत! तमस को तुम अज्ञान से उत्पन्न जानो जो सभी देहधारियों

को मोहित कर देता है। यह प्रमाद आलस्य और निद्रा के द्वारा तेजी से बांधता है।

तमस की उत्पत्ति अज्ञान से होती है और यह सभी देहधारियों को बांधता है।

सत्वगुण और रजोगुण के विषय में बताते हुए भगवान ने 'सभी' शब्द का उपयोग नहीं किया था। यहां सभी कहने का तात्पर्य है कि यह प्रवृत्ति पशुओं में भी मुख्य रूप से पाई जाती है। पशु सत्वगुण के सुख और ज्ञान का अनुभव कर ही नहीं सकते। उनकी क्रियाओं को रजोगुण से संचालित भी नहीं मान सकते क्योंकि वे अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति भर के लिए ही कुछ करते हैं। वह भी उनकी जन्मजात प्रवृत्ति ही होती है। महत्वकांक्षा या अधिक पाने आदि की लालसा उन्हें नहीं होती। भोजन और सुरक्षा इन दो उद्देश्यों को छोड़ कर अन्य किसी बात का उन्हें पता नहीं। इसके अलावा वे इधर-उधर घूमते भी रहते हैं तो उसका कोई उद्देश्य नहीं होता। उन्हें कोई ज्ञान नहीं होता कि हम घूम क्यों रहे हैं या घूमना स्वास्थ्य के लिए अच्छा है। अत: उनकी क्रियाएं अज्ञान जनित होने के कारण तामसिक ही कहलाएंगी।

अब हम ज्ञानी समझे जाने वालों की दशा देखें। हमें भूख लगेगी, खूब बढ़िया खाना स्वाद ले-ले कर खाएंगे, होटल जाकर दो-दो घंटे बिता देंगे। नींद लगेगी तो सोएंगे, न भी लगे तो गोली खा कर सोएंगे लेकिन कहीं श्रम करने की बात आएगी तो कहेंगे- व्यर्थ समय बर्बाद करने से क्या फायदा। यह काम तो एक मामूली आदमी को नौकर रख कर कराया जा सकता है। हम तो इतने पढ़े-लिखे हैं, मानसिक और बौद्धिक श्रम करते हैं। अपनी बुद्धि के द्वारा हम तो हजार श्रमिकों को कंट्रोल कर सकते हैं, हम श्रमिक का काम क्यों करें? ऐसे लोग जब श्रम मानसिक करते हैं तो भोजन और नींद भी मानसिक क्यों नहीं ले लेते? या फिर जब नींद नहीं आती तो खुश क्यों नहीं होते कि कुछ देर और मानसिक कर्म कर पाएंगे? नींद बहुत जरूरी शरीर के लिए, यह ज्ञान तो है लेकिन शारीरिक श्रम भी जरूरी है, यह ज्ञान नहीं। दिन में श्रम न करने का नतीजा यह होता है कि रात को बिछौने में

श्रम करना पड़ता है, छटपटाना पड़ता है तब कहीं दो-तीन बजे तक नींद आती है। आलस्य छाया रहता है। कुछ करने का मन नहीं होता फिर बुद्धि भी ठीक से काम नहीं करती। इसीलिए तमस को अज्ञान बताया है।

तमस के संगी-साथी हैं- मोह, प्रमाद, आलस्य और निद्रा। जो वस्तु जैसी है वैसी न दिखाई पड़े तो उसे मोह कहते हैं। जब हमें लगता है कि कम से कम काम करके ज्यादा से ज्यादा आराम के साधन जुटा लेना परम बुद्धिमत्ता और सफलता की निशानी है तो यह मोह है। प्रमाद का अर्थ है करने योग्य काम को न करना और न करने योग्य को करना। जिस प्रकार के कार्य से अपना या समाज का हित होता है उसकी उपेक्षा करना और जिस काम से अपना या समाज का अहित होता है उसे करना। न करने लायक कर्म दो श्रेणी में बांटे जा सकते हैं १. व्यर्थ खर्च करना जैसे पान, सिगरेट, नशीले पदार्थ आदि में खर्च करना और २. व्यर्थ क्रिया करना जैसे ताश, जुआ आदि खेलना, बिना किसी कारण पशु पक्षी को तंग करना, पेड़-पौधों को नुकसान पहुंचाना इत्यादि। अनावश्यक वस्तुओं के प्रति उदार होना और आवश्यक के लिए कंजूसी कर जाना, अनावश्यक काम में समय बिता कर आवश्यक की उपेक्षा कर देना प्रमाद है।

तमोगुण और अधिक बढ़ता है तो आलस्य आने लगा है। करणीय अथवा अकरणीय कुछ भी करने का मन नहीं करता और फिर तमस की चरम स्थिति आती है- निद्रा, जिसमें कुछ करने की संभावना बिल्कुल ही समाप्त हो जाती है। इस प्रकार तमोगुण मोह, प्रमाद, आलस्य और निद्रा के द्वारा मनुष्य को बांध लेता है यानी उसकी परमार्थिक उन्नति नहीं होने देता।

तीनों के बंधन अलग-अलग बता कर अब अगले श्लोक में इसका उपसंहार करते हुए भगवान कहते हैं:-

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ।।९।।

हे भारत! सत्व गुण सुख में और रजोगुण कर्म में तथा तमोगुण ज्ञान को ढंक कर प्रमाद में लगा कर मनुष्य पर विजय प्राप्त करता है।

इस श्लोक में भगवान सत्वगुण रजोगुण और तमोगुण की बात फिर से एक साथ कह रहे हैं कि हम अच्छी तरह इनका तुलनात्मक विवेचन कर सकें। तमस तो अकर्मण्यता की स्थिति हैं, रजस कर्मशीलता की और सत्व की स्थिति को हम निष्कर्मता कह सकते हैं जब शारीरिक कर्म हो भी सकता है नहीं भी किन्तु आध्यात्मिक प्रगति होती रहती है। इसमें महत्व कर्म का नहीं, निष्कामता का है। समाधि में बैठा साधु देखने में अकर्मण्य लग सकता है लेकिन वास्तव में उसका कर्म साधारण कर्मों से कहीं ऊंचा है।

कुछ न करके पाने की प्रवृत्ति तमस है, कर्म करके पाना या कुछ पाने के लिए ही कर्म करना रजस है और कर के भी पाने की इच्छा न रखना सत्व है।

वैसे तो सात्विक सुख बड़ी ही ऊंची बात है किन्तु जो आध्यात्मिक साधक हैं, जो परम ज्ञान, परम पद के अभिलाषी हैं उनके लिए सात्विक सुख मीठा जहर है। वह सुख में ऐसे बंध जाता है कि उसकी आगे की प्रगति रुक जाती है। अच्छे-अच्छे साधु एक स्थान से बंध जाते हैं क्योंकि यहां का वातावरण बड़ा सात्विक है या यहां सात्विक भोजन मिल जाता है। उसे पता भी नहीं चलता कि वह गलती कर रहा है।

रजोगुण कर्म के द्वारा बांधता है, इसमें भी एक सूक्ष्म विचारणीय बात है। फल की आसक्ति के साथ जब हम कर्म करते हैं तब तो कैसे चक्कर में पड़ते हैं इसका अनुभव हमें है ही। हममें से कुछ जो जरा विचारशील है। गीता के 'कर्म कर फल की चिन्ता मत कर' के उपदेश को धारण करना चाहते हैं वे कभी-कभी बुरे फंस जाते हैं। फलासक्ति तो जल्दी पहचान में आ जाती है पर कर्मासक्ति पहचान में नहीं आती। इसलिए समाज सेवा भी कोई प्याऊ बिठा कर ही करना चाहता है, कोई अनाथालय बनाकर ही और कोई गीता का उपदेश देकर ही। कुछ अर्से तक एक ही कर्म, भले ही वह निष्काम हो तो उसे करने में आनन्द आने लगता है। फिर वह आनन्द ऐसा लुभा लेता है कि हमें लगता है- बस हमारा जीवन तो इसी के लिए है। इस प्रकार कर्मासक्ति रजस का बंधन है जो हमें निरन्तर कर्म में लगाए रखता है।

तमस तो ज्ञान को आवृत्त कर लेता है, हमारे विवेक को ऐसा ढंक लेता है कि जब कोई कामना जागती भी है तो हम उसका परित्याग नहीं करते उसे दबा देते हैं क्योंकि बुद्धि ठीक से काम न करने के कारण हमें समझ ही नहीं आता कि क्या करना चाहिए या 'कौन मेहनत करे' की प्रवृत्ति हमें शारीरिक और मानसिक दोनों रूपों से सुलाए रखती है।

साधारण सा उदाहरण लें भोजन का। स्वादिष्ट भोजन की कामना उठी और हम पड़ गए बखेड़े में, यह रजस है। यदि हम विचार करें कि भोजन स्वाद के लिए नहीं शरीर की पुष्टि के लिए करना चाहिए तो इस बखेड़े में न पड़ना सत्व है किंतु न तो हम 'कामना नहीं होनी चाहिए' के प्रति जागरुक हों न पौष्टिकता का विवेक रखें, बनाने के आलस से रुखा-सूखा बासी भोजन खा लें तो यह तमस है।

क्या हमारे अन्त:करण में से तीनों एक साथ रहते हैं? या फिर एक-एक कर आते हैं? क्या पद्धति है इनकी हमारे अन्त:करण को प्रभवित करने की?

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रज: सत्त्वं तमश्चैव तम: सत्त्वं रजस्तथा ।।१०।।

हे भारत! रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्वगुण, सत्वगुण और तमोगुण को दबाकर रजोगुण तथा सत्वगुण और रजोगुण को दबा कर तमोगुण बढ़ता है।

स्पष्ट है कि तीनों गुण रहते साथ ही हैं पर एक की हमेशा प्रधानता होती है। यह प्रधानता ही समय-समय पर बदलती रहती है। जब शरीर थक जाता है, रात हो जाती है तो कितना भी कर्मठ व्यक्ति हो, कैसा भी साधक या योगी हो, नींद तो लेगा ही। हम किसी व्यक्ति को सत्वगुणी, रजोगुणी कहते हैं तो इसका मतलब यह नहीं होता कि बाकी दूसरे गुण उसमें होंगे ही नहीं। भगवान बताते हैं कि गुण तो तीनों ही कम-अधिक मात्रा में रहेंगे। सत्वगुणी व्यक्ति का मतलब है कि अधिक समय उसमें सत्वगुण की प्रधानता होती है।

हर गुण बाकी दोनों गुणों को दबा कर उभरता है। अपनी दिनचर्या देखें। प्रात:काल जरा नींद खुली। सत्व ने कहा उठो। यह काल नित्यकर्म कर ध्यान का होता है। रजस भी उठने को कहेगा लेकिन यह ध्यान-व्यान, पूजा-पाठ सब निकम्मे लोगों के चोंचले हैं। काम में लगे फटाफट। तब कमाई होगी। तमोगुण कहेगा- क्या सुबह-सुबह उठकर स्वास्थ्य खराब करना? अरे यही तो समय होता है जब गहरी और मीठी नींद आती है। पूरी नींद लेना भी स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है या नहीं?

तीनों बात एक ही क्षण में तीन व्यक्ति के हृदय में उठ सकती है। एक ने दूसरे-तीसरे विचार के सर उठाते ही कहा- 'चुप करो। जो उचित है वही करना चाहिए।' दूसरे ने पहले और तीसरे को चुप करा दिया- 'आलस छोड़ो और पूजापाठ में समय बर्बाद करने से भी कुछ नहीं होगा। पुरुषार्थ पर विश्वास करो पुरुषार्थ पर।' और तमस तो बहुत बढ़िया से सत्व और रजस को चुप कराता है। 'क्या बकवास लगा रखी है सुबह-सुबह। चुपचाप रजाई तानो कान तक और सो जाओ।' इस प्रकार तीनों की कलह और जय-पराजय का खेल चलता रहता है।

आफिस गए तो सत्वगुण कहता रहेगा- 'मानव हो तुम पशु नहीं। जरा मानवता रखो। तुम्हारा मजदूर आज पैर की चोट के बावजूद भी अपनी मजबूरी के कारण काम पर आया है तो उसके साथ सहानुभूति रखो। उसका उपचार भी कराओ।' रजस कहेगा- 'यही करते रहोगे तो चुका तुम्हारा काम। अरे! तुम यहां कमाने आए हो कि धर्मशाला-अस्पताल खोलने।' तमस कहेगा-'छोड़ो हटाओ ये सब चक्कर। बेकार दिमाग खराब करने से क्या फायदा। चलने दो जैसे चलता है।'

इस प्रकार सत्व विवेक विचार का हवाला देकर दोनों चुप कराता है, रजस अपने स्वार्थ लाभ का हवाला देकर और तमस आराम को महत्व दिलाते हुए बाकी को चुप कराता है। कभी किसी की जीत होती है कभी किसी की। कैसे पता चले कि इस वक्त कौन से गुण की प्रधानता है?

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ।।११।।

जब देह के सभी द्वारों में ज्ञान का प्रकाश उत्पन्न हो जाता है तब जानना चाहिए कि सत्वगुण बढ़ा हुआ है।

हमारे शरीर को नवद्वार का पुर कहा जाता है। ये द्वार हैं-दो आंखें, दो कान, दो नासिका रंध्र, मुख, गुदा, उपस्थ। इनके द्वारा हम बाहरी जगत के साथ समागम करते हैं। यह समागम सदा विवेकपूर्ण नहीं होता। कभी हमारे आंखें बहुमूल्य सूट पहने इम्पाला से उतरते व्यक्ति को देख कर ऐसी मुग्ध हो जाती है कि मन उसे सृष्टि का श्रेष्ठतम पुरुष मानने लगता है और हम उसे आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित कर लेते हैं। हम अच्छी तरह जानते थे कि इस शान शौकत के आवरण में कितने घिनौने कृत्य अंगड़ाइयां ले रहे हैं किन्तु उस समय आंखों को केवल ठाट-बाट दिखाई देता है और कुछ नहीं। ऐसी स्थिति में आखों में ज्योति तो है पर उससे ज्ञान का प्रकाश नहीं निकल रहा। इसी प्रकार सड़क से गुजरते समय गोलगप्पे की खुशबू नाक को मस्त कर देती है और मुख यानी जिह्वा की मांग हो जाती है। हम भूल जाते है कि यह सुगंध अपने साथ कितना भयंकर पेटदर्द ला सकती है। यानी नाक की घ्राण शक्ति के साथ विवेक का प्रकाश नहीं। अंधेरे में जैसे हम कुछ का कुछ समझ बैठते हैं वही स्थिति हमारी इंद्रियों मन आदि की हो जाती है।

भगवान कहते हैं कि जब तुम्हें लगे कि तुम्हारे शरीर के समस्त उपकरण ज्ञान के प्रकाश में संसार को देख रहे हैं, परिस्थितियों का आकलन सही-सही हो रहा है, तुम्हें अपना कर्तव्य, अपने कर्मों का औचित्य स्पष्ट दिखाई दे रहा है तो समझना कि सत्वगुण बढ़ा हुआ है।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ।।१२।।

हे भरत श्रेष्ठ! रजोगुण के बढ़ने पर लोभ, प्रवृत्ति, कर्मों का आरम्भ, अशांति और स्पृहा ये वृत्तियां पैदा होती हैं।

अपनी आवश्यकता के लिए यथेष्ट सामग्री होते हुए भी और अधिक की इच्छा करना लोभ है और यह ऐसा राक्षस है जिसका एक सर कटता

है तो दस सर उग जाते हैं। यह लोभ हमें 'कुछ और, कुछ और' करने को विवश करता है। प्रवृत्ति का अर्थ कर्म करना मात्र नहीं। उस कर्म में अपने दिल दिमाग को गहरे तक डुबा देना है। कर्मठ व्यक्ति भी नींद तो लेता ही है पर हम यह नहीं कहते कि उसकी प्रवृत्ति ही है सोना। आलसी से आलसी व्यक्ति भी शरीर निर्वाह के लिए कुछ तो कर्म करता ही है, पर उसकी प्रवृत्ति कर्मों में नही होती, उसकी प्रवृत्ति सोने या पड़े रहने में ही होती है। अर्थात् उसी में वह सार्थकता समझता है। इसी प्रकार जब रजस की वृद्धि होती है तो कर्म में प्रवृत्ति होने लगती है यानी अन्दर से लगने लगता है- कुछ करो, कुछ करो। कभी कभी तो हम जरूरत भर भी आराम नहीं कर पाते, और तो और धैर्यपूर्वक योजना भी नहीं कर सकते। जैसे सामने घर जल रहा हो तो व्यक्ति सोचे विचारे बिना, योजना बनाए बिना बच्चे को बचाने के लिए आग में कूद पड़ता है, वही हालत रहती है हमारी जब रजस हमारे शरीर में शक्तिमान रहता है। बस जल्दी से जल्दी कुछ करना है।

कर्मों के आरम्भ का नितान्त शाब्दिक अर्थ नहीं लिया जाता। तब तो अर्थ यह हो जाएगा कि सत्वगुण की स्थिति में कोई कर्म संभव ही नहीं। कर्म करना शुरू तो सत्वगुणी भी करता ही है। किन्तु सत्वगुणी का विवेक निर्मल होने के कारण वह यह मानता है कि वास्तविक कर्ता तो ईश्वर है किन्तु रजोगुणी समझता है- मैंने किया यह कार्य। मैं इस कार्य का शुभारम्भ करने वाला हूं। कर्मों का आरम्भ से तात्पर्य कर्म में कर्ताभाव का होना है।

इस प्रकार जिसके मन में लोभ जागेगा, उसके प्रवृत्ति कर्म में होगी ही। मुझे कर्म करना है, मुझे यह पाना ही है सोचते हुए जो कार्य करेगा उसे और कोई फल मिले न मिले, अशांति तो अवश्य मिलेगी। अभीष्ट फल यदि मिल गया तो लोभ कहेगा- बस इतने से क्या होगा और न मिला तो उसकी स्पृहा वैसे चैन नहीं लेने देगी। सारांश यह है कि कुछ पाने के लिए कुछ करने की बेचैनी जब महसूस हो तो समझ लेना चाहिए कि रजस की वृद्धि हो रही है।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ।।१३।।

हे कुरुन्दन! जब तमस की वृद्धि होती है तो अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद और मोह पैदा होते हैं।

अप्रकाश बुद्धि की वह स्थिति है जब बुद्धि को कुछ सूझना बंद हो जाता है। वह उचित अनुचित का निर्णय भी नहीं ले पाती। एक तरह बोझ का अनुभव होता है और ज्ञान लुप्त होता जान पड़ने लगता है। कम से कम रात को नींद के समय इस स्थिति का अनुभव सब करते ही हैं।

अप्रवृत्ति का अर्थ है अपने कर्त्तव्य कर्मों से भागना, किसी भी काम में रुचि न होना तथा उत्साह का अनुभव न होना। जब तमस बढ़ता है तो सारी महत्वकांक्षाएं सुप्त हो जाती है, सारी शक्ति और क्षमता दूर भाग जाती है, केवल खाना पीना और पड़े रहना अच्छा लगता है। ऐसी स्थिति में जो होगा वह प्रमाद है, यानी जो करना चाहिए वह तो नहीं किया और जो न करना चाहिए वह करते रहे।

प्रमाद के साथ ही दूसरा विषाणु जो हमें अपना शिकार बनाता है वह है मोह। हम संसार को गलत नजरिए से देखने लगते हैं, अपनी क्षमता का भी गलत मूल्यांकन करते हैं और संसार के साथ हमारा रिश्ता, हमारा व्यवहार कैसा होना चाहिए यह भी नहीं समझ पाते। फलस्वरूप जीवन एक के बाद एक की गई भूलों का पहाड़ बनता जाता है। हमें अपनी भूल का पता भी नहीं चलता क्योंकि मोह का काला चश्मा जो चढ़ा होता है ज्ञान चक्षुओं पर। तामसिक प्रवृत्ति वालों को और कुछ आता हो या न आता हो, रहीम दास का दोहा– 'रहिमन चुप हो बैठिए देख दिनन के फेर, जब नीके दीन आइहैं बनत न लगिहैं देर' खूब अच्छी तरह याद रहता है और बिना अटके वे इसे जन जन के सामने दुहराते रहते हैं। रहीम के इस दोहे का जैसा दुरुपयोग भारत के आलसी अकर्मण्यों ने किया है वैसा शायद ही किसी संत वाणी का हुआ हो। रहीम चुप होकर बैठने कहते हैं, निष्क्रिय होकर बैठने नहीं। वे तो कहना चाहते हैं कि पुरुषार्थ करने पर भी बनती नजर आती हो तो चुप रहिए यानी शांत रहिए। जब बैठें तो अपना रोना न रोएं। इसे समय का फेर मान कर शांति और धैर्य धारण करे और यह विश्वास रखें कि समय अनुकूल आएगा तो सारी बात बनते देर नहीं लगेगी। आलसियों का तो समय

कभी अनुकूल आ ही नहीं पाता। अतः अप्रकाश, अप्रवृत्ति, कर्तव्यत्याग और मोह आपको वशीभूत करने लगे तो समझ जाएं- तमस अपना जाल फैला रहा है।

इस प्रकार सत्व, रजस, तमस के लक्षण, प्रभाव, पहचान आदि बताने के बाद भगवान इन तीनों गुणों से सम्बन्धित एक और सूत्र पकड़ते हैं। हमारा धर्म पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानता है। गीता में भगवान ने स्थान-स्थान पर इस सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से प्रतिष्ठित किया है। मुत्यु के बाद कैसा जीवन मिलेगा यह जीव की वासना पर निर्भर करता है और वासना यानी कामनाओं की संख्या और दिशा इन तीनों पर निर्भर करती है अतः अब भगवान बताएंगे कि सत्वगुण, रजोगुण, तमोगुण हमारे भविष्य को कैसे प्रभावित करते हैं।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ।।१४।।

जिस समय सत्व गुण बढ़ा हो उस समय देहधारी मनुष्य यदि मर जाता है तो वह उत्तम कर्म करने वालों के निर्मल लोक में जाता है।

भगवान यहां बता रहे हैं कि स्थूल शरीर के नाश के बाद जीवात्मा के सूक्ष्म और कारण शरीर किधर जाते हैं। हम अपने दैनिक जीवन में भी मन बुद्धि की दिशा का अवलोकन करें तो काफी बात समझ में आ जाएगी। एक डाक्टर रात को सोए और सुबह उठ कर पुल का नक्शा बनाना शुरू कर दे यह संभव नहीं। न ही इंजीनियर रातों रात डाक्टर बन सकता है। उन्होंने अपने-अपने क्षेत्र के लिए अपने मनबुद्धि को प्रशिक्षित कर रखा है। डाक्टरी का प्रशिक्षण पाई हुई बुद्धि दवाओं के बीच ही विचरण करेगी। इस प्रकार वृत्तियों की निरन्तरता बनी रहती है। अगले दिन की वृत्ति आज की वृत्ति के अनुसार होगी। अगले साल की वृत्ति का निर्धारण इस साल की वृत्ति करेगी। हर क्षण पिछले क्षण से जुड़ा होता है। वृत्तियां बनती बिगड़ती तो रहती हैं पर अचानक से सब कुछ बदल नहीं जाता। एक निरन्तरता अवश्य होती है उनमें। इसी तर्क से सोचें तो जब मुत्यु को मात्र स्थूल शरीर का नाश मानते हैं तो सूक्ष्म शरीर (मन बुद्धि) और कारण शरीर (वासना) में किसी अकस्मात्

परिवर्तन की कोई बात समझ में नहीं आती। जिस प्रकार इस जीवन में हमारे भविष्य के विचारों को रंग देने वाले हमारे वर्तमान विचार हैं उसी प्रकार अगले जीवन की वृतियों को रंग देने वाली हमारी इस जीवन की वृत्तियां हैं अत: पुनर्जन्म हमारे इस जीवन की वृत्तियों से प्रभावित होगा ही।

अब दूसरी बात यह देखने की है कि किसी भी समय हम जब घर से निकलते हैं तब कहां जाते हैं। यूं तो हमें बहुत जगह जाने की इच्छा या आवश्यकता का अनुभव हो सकता है पर उस विशेष क्षण में जैसी वृत्ति होगी वैसी ही इच्छा अधिक बलवती होगी और उसी के अनुसार हम अपनी यात्रा निर्धारित करेंगे। यदि वृत्ति प्रकृति के मनोरम दृश्य का आनन्द लेने की हुई तो किसी सुन्दर वाटिका में जाएंगे। यदि वृत्ति कह रही है कि बढ़िया खाने के बराबर सुख दूसरा नहीं तो हम रेस्टोरेंट में जाएंगे। रेस्टोरेंट में भी–वैसे तो हमें चाईनिज खाना बहुत अच्छा लगता है पर अभी तो 'साउथ इंडियन' का मन कर रहा है अत: अमुक होटल में चला जाए। इसी प्रकार देह त्याग के समय हमारी अगली यात्रा हमारे इस जीवन की सम्पूर्ण वृत्तियों अनुसार होगी किन्तु उसमें भी बहुत महत्वपूर्ण वह वृत्ति होगी जो ठीक देह त्याग के समय बलवती रहेगी।

यदि मृत्यु के समय सत्वगुण बढ़ा हुआ हो तो निस्संदेह मन बुद्धि की वृत्तियां उसके अनुरूप ही होगी और वे वैसे ही लोक अर्थात् वैसी योनि में ले जाएंगी जो उनके अनुकूल हो। उस समय स्वच्छता, निर्मलता आदि वृत्तियां बढ़ी हुई होती हैं अत: जब मनुष्य के प्राण छूटते हैं तो वह उत्तम कर्म करने वालों के लोक में जाता है।

यहां एक बात और ध्यान देने की है। यों तो हर स्थान पर कहा गया है कि हमारा भविष्य हमारे पूर्व और वर्तमान कर्म मिल कर निर्धारित करते हैं। हम इस जीवन में जैसे कर्म करेंगे उसी के अनुसार हमें अगला जन्म मिलेगा किन्तु यहां भगवान वृत्ति के अनुसार अगले जन्म के निर्धारण की बात कर रहे हैं। तात्पर्य यह है कि सत्वगुण की वृत्ति होना भी पुण्य कर्म के समान ही श्रेष्ठफल देने वाला है। यदि हमारे पास शारीरिक शक्ति या आर्थिक समृद्धि नहीं कि हम किसी का बहुत बड़ा उपकार कर सकें, बहुत बड़े–बड़े अस्पताल, मंदिर, धर्मशाला बनवा सकें तो दुखी होने की आवश्यकता नहीं

कि पुण्य कर्म किए ही नहीं तो परलोक कैसे सुधरेगा। अपनी वृत्तियां सात्विक बनाकर रखें। भगवान कहते हैं वह सबसे अधिक महत्वपूर्ण है।

गीता में हर स्थान पर कर्म की अपेक्षा भाव को ही महत्व दिया गया है। शास्त्रविहित पुण्य कर्म में भी भावना का की महत्व अधिक है, पुण्यकर्म विशेष का नहीं। ऊपर से पुण्य कर्म प्रतीत होने वाला अनुष्ठान भी मन में द्वेष या किसी से बैर भाव रख कर या लोक दिखावे के लिए किया जाए तो उसका महत्व नहीं रह जाता।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ।।१५।।

रजस के समय मृत्यु को प्राप्त करने वाला उनके बीच जन्म लेता है जो कर्म में आसक्ति रखते हैं। तमस में मरने वाला मूढ़ योनी में जन्म लेता है।

अन्तकाल में यदि रजोगुण यानि लोभ, अशांति और स्पृहा आदि वृत्तियां बढ़ी हुई हों और उसी चिन्तन में शरीर छूटे तो वह मृतात्मा कर्मों में आसक्ति रखनेवाले मनुष्य का जन्म लेता है।

इस प्रकार तत्कालिक वृत्ति के कारण मनुष्य जन्म तो मिला क्योंकि मनुष्य योनि को ही कर्म योनि माना गया है, किन्तु मनुष्य के रूप में जन्म लेकर वह कर्म कैसे करेगा यह उसके जीवन भर के संचित कर्मों या वृत्तियों पर निर्भर करता है। जिसने उम्र भर अच्छे आचरण किए हैं, अच्छे भाव रखें हैं वह अन्तकाल में रजोगुण की वृद्धि के कारण मनुष्य जन्म प्राप्त करेगा तो भी उसके भाव, आचरण और कर्म अच्छे ही रहेंगे। जिसका जीवन साधारण रहा है वह रजोगुण के वृद्धिकाल में मरने के बाद नए जन्म में भी वस्तुओं भोगों में आसक्ति वाला ही होगा। जो जीवन भर काम-क्रोध आदि को ही प्रमुखता दे रहा है वह रजोगुण के बढ़ने पर मरेगा तो मनुष्य योनि पाकर भी आसुरी वृत्ति वाला ही होगा, नीच कर्म करेगा। इस प्रकार तीन प्रवृत्ति वाले मनुष्य तो हुए, पर यह ध्यान देना चाहिए कि इनमें मूढ़ कोई नहीं है। विवेक सबको भगवान ने दिया है। इस विवेक का उपयोग कर अपने जीवन को संवारने

का पुरुषार्थ करने की क्षमता सभी मनुष्यों को मिली यही क्या कम है? अपने विवेक का उपयोग करें।

हां, यदि तामसिक वृत्ति के साथ आपने देह त्याग किया है तो यह संभावना खत्म हो जाती है। तब जन्म मूढ़ योनि में होता है। मूढ़ उसे कहते हैं जो मूड के अनुसार चलता है बुद्धि के अनुसार नहीं। इस प्रकार मनुष्यों में भी झुण्ड के झुण्ड ऐसे मिल जाएंगे।

सामान्यतः पशु-पक्षी, कीट-पतंग या पेड़-पौधे आदि को मूढ़ योनि माना गया है। इनमें बुद्धि न के बराबर होती है और विवेक यानि उचित-अनुचित का निर्धारण करने की क्षमता तो बिल्कुल होती ही नहीं। लोमड़ी जैसे जो अत्यन्त चालाक माने जाने वाले पशु हैं उनकी बुद्धि तेज चलती भी है तो अपने स्वार्थ लाभ यानि पेट भरने और सुरक्षा के लिए ही। अमुक काम करना चाहिए या नहीं यह बेचारी लोमड़ी कहां सोच पाती है? प्रकृति ने उसे वह क्षमता दी ही नहीं है। यह उसका दोष नहीं यह तो पूर्वजन्म की प्रवृत्तियों का दोष है पर उन मनुष्यों की क्या कहें जो बुद्धि के साथ-साथ विवेक और पुरुषार्थ का उपहार लेकर आए हैं और अजगर या लोमड़ी की भांति रहे हैं। अजगर तभी हिलता-डुलता है जब उसे भोजन की आवश्यकता हो। लोमड़ी भी अपनी बुद्धि का प्रयोग ऐसे ही क्षणों में करती है।

तीनों गुणों के फलों की चर्चा करते हुए भगवान कहते हैं:-

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ।।१६।।

कहते हैं कि सुकृत कर्म का फल सात्विक, निर्मल होता है। रजस का फल दुःख और तमस का फल अज्ञान है।

इस श्लोक में पुनः भगवान ने पहले कही हुई बातों का ही उपसंहार किया है। रजस का फल दुःख है और तमस के कारण हमारा ज्ञान कैसे आच्छादित हो जाता है यह तो हम पहले ही देख चुके हैं। सत्व के बारे में यहां एक बात ध्यान देने की है।

भगवान ने जैसे कहा कि रजस का फल दु:ख है, तमस का फल अज्ञान है, वैसे सत्व का फल अमुक है, ऐसा नहीं कहा। उन्होंने सत्व के विषय में बात दूसरे ढंग से कही है। वे कह रहे हैं कि सुकर्मों का फल सात्विक है। यानी सत्व को कारण रूप में नहीं फल के रूप में प्रस्तुत किया है। इसका विशेष प्रयोजन है। अब तक के विवेचन से निश्चय ही हमारे मन में यह विचार बार-बार आ रहा होगा कि सत्वगुण तो बहुत ही गरिमामय है। काश हम उसकी वृद्धि कर पाते। दूसरी और मन में यह भी सोचते हैं कि यह तो वृत्ति है जिसके अनुसार कर्म का संचालन होता है यानि सत्वगुण कारण है और सत्कर्म उसके फल। कारण से फल की उत्पत्ति की जा सकती है पर कारण की उत्पत्ति कैसे करें? बिजली से प्रकाश उत्पन्न होता है तो बिजली कैसे बनाएं। भगवान कहते हैं कि सत्वगुण के संबंध में एक विशेष बात है। सत्वगुण से सत्कर्म उत्पन्न होता है पर साथ ही सत्कर्म से सत्वगुण भी उत्पन्न किया जा सकता है। यह 'रिवर्सिबल रिएक्शन' की भांति है।

इसे ठीक से समझें। हम एक तो सत्कर्म करते हैं जो हमारा सहज स्वभाव हमसे कराता और एक सत्कर्म है जो हमारा विवेक या हमारी अनुशासनप्रियता अथवा किसी महापुरुष का प्रभाव हमसे करवा लेता है। ऐसे में सत्कर्म सत्वगुण का फल नहीं बल्कि सत्वगुण उत्पन्न करने वाला कारण बन जाता है और यह सत्वगुण के बन्धु निर्मलता की भी वृद्धि करा देता है। उदाहरणस्वरूप जिनके पुत्र बहुत ही चंचल या शैतान होते हैं उन्हें उनके माता-पिता किसी अच्छे होस्टल में भेजना चाहते हैं। वहां उन्हें अनुशासन का पालन करना पड़ता है। शुरू में दबाव का अनुभव होता है, धीरे-धीरे उनकी प्रवृत्तियां बदल जाती हैं। किसी कर्म को अनिच्छा से ही सही किन्तु दीर्घ काल तक किया जाए तो वह स्वभाव बन जाता है। इसीलिए हर संस्कृति बच्चों में आरम्भ से ही संस्कार डालने की बात करती है। बचपन से ही उन्हें सिखाया जाना चाहिए कि गुरुजनों का सम्मान करो, नित्य भगवान की पूजा करो, प्रात: जल्दी सो कर उठो। बचपन में उसकी बुद्धि इतनी विकसित नहीं है, पिछले जन्म के संस्कारों से मिली प्रवृत्तियां अभी दबी हुई हैं, उसी समय से सत्कर्म का अभ्यास पड़ जाए तो उसका सात्विक और निर्मल फल होगा अर्थात् वह बुद्धि पर पड़े रजोगुण और तमोगुण के मल को हटाएगा और सत्व की वृद्धि करेगा। बड़ों के साथ भी इसी तरह का होता है। हमारी प्रवृत्ति तामसिक

है। हम सुबह नौ बजे तक सोना चाहते हैं। फिर तमस को दबाकर रजस उभरता है तो बेचैनी, व्याकुलता, ये करें, वो करें, की प्रवृत्ति हो जाती है। एक क्षण के लिए न मन शांत होता है न शरीर। इन दोनों के दु:ख रूपी फल को हम भोग रहे हैं। भोगते-भोगते अब थक गए। ऐसे में कोई सद्गुरु मिलता है या किसी पुस्तक में ही पढ़ा कि सुबह जल्दी उठकर ध्यान लगाना चाहिए। इससे बहुत शांति मिलती है। अब यह सात्विक प्रवृत्ति है तो नहीं, पर मूढ़ योनि में तो जन्म नहीं लिया, हैं तो मनुष्य योनि। पुरुषार्थ और विवेक का उपयोग किया। ब्रह्म मुहूर्त में चार बजे तो नहीं उठ पाए पर छ: बजे आखिर उठ ही गए। नहा धोकर ध्यान लगाने बैठे तो मन तो सामान्य से भी अधिक अस्थिर अशान्त! शरीर भी एक मुद्रा में बैठता नहीं। तमस और फिर रजस का दमन करना पड़ रहा है और होता नहीं क्योंकि प्रवृत्ति तो सात्विक है नहीं। गए गुरु के पास। गुरु ने प्यार से समझाया- बेटा! सबके साथ ऐसा ही होता है, तुम घबराओ नहीं, धीरे-धीरे सब ठीक हो जाएगा। लगे रहो। आखिर दूसरे भी कष्ट तुम्हें सहन करने पड़ ही रहे हैं। इसके साथ ही साधना को सुगम बनाने के लिए कुछ, पूजा, भजन या कुछ सेवा कार्य, निष्काम कर्म का उपाय बता दिया। इससे मन कुछ शांत होगा, इस विश्वास से करते हुए हमने देखा कि मन पर पड़ी राग-द्वेष, ईर्ष्या, लोभ, मोह की गन्दगी हटती जा रही है। हमें अपनी राह स्पष्ट दिखाई देने लगी है। अब तो हमें ध्यान, पूजा के क्षण सुखद लगने लगे हैं। जिन रसों का आस्वादन हमने अब तक किया नहीं था उनका स्वाद अति प्रिय लगने लगा है। देखिए कैसे सत्कर्मों ने तमस और रजस को हरा कर सत्व का फल चखा दिया।

इस प्रकार भगवान ने स्पष्ट कर दिया है कि यद्यपि जीवन में हमारे द्वारा किए गए कर्म वृत्तियों के अधीन हैं तथापि हम इन वृत्तियों और गुणों के दास नहीं हैं। हम प्रयत्न करें तो सत्व की वृद्धि कर इस जीवन को और अगले जन्म को भी सुधार सकते हैं।

ये गुण कैसे विभिन्न प्रवृत्तियों को उत्पन्न करते हैं, भगवान बताते हैं:-

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ।।१७।।

सत्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है और रजोगुण से नि:सन्देह लोभ उत्पन्न होता है तथा तमोगुण से प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं और अज्ञान भी होता है।

भगवान अत्यन्त कुशल गुरु हैं। कुशल शिक्षक अपनी ही मौज में बोलता नहीं चला जाता। वह शिष्य के चेहरे पर उभरते भावों पर कड़ी नजर रखता है और एक बात को कई प्रकार से घुमा फिरा कर कहता है। कभी उसे एक कोण से समझाता है कभी दूसरे कोण से। फिर कभी दोनों कोणों को मिलाकर अपनी बात प्रस्तुत करता है ताकि शिष्य के मन में किसी भी प्रकार की शंका या असमंजस न रह जाए। प्रस्तुत श्लोक में भी इसीलिए पहले कही गई बातों को किंचित हेरफेर के साथ कहा है। यहां वे बता रहे हैं कि जब ये तीनों गुण मन-बुद्धि के धरातल पर प्रकट होते हैं तो क्या होता है।

पहले भी बताया गया है कि आत्मा नित्य शुद्ध, बुद्ध है, उसे न तो कुछ जानना है, न प्रकाशित करना है, समझना है। यह स्वयं प्रकाशमान और मुक्त है। यह न तो तीनों गुणों में लिपायमान होती है, न कर्मों के बंधन से बंधती है। बंधन में जो है वह परमात्मा स्वरूप आत्मा नहीं। बंधन में जो है वह जीवात्मा है। स्वयं प्रकाश्य आत्मा के चारों ओर जब मन बुद्धि चित्त और अहंकार की दीवारें रहती है तो उससे परावर्तित होकर निकलते हुए प्रकाश का स्वरूप भिन्न प्रतीत होने लगता है। तब वह परमात्मा नहीं जीवात्मा जान पड़ता है जो अपने को इन दीवारों में जकड़ा हुआ, इनके सामने बेबस महसूस करता है, अपने को कर्मों का कर्ता और कर्मफलों का भोक्ता समझने लगता है। दर्पण यदि हिलता-डुलता रहे तो उससे परावर्तित होकर आने वाला प्रकाश भी अस्थिर होगा और किसी भी वस्तु को ठीक-ठीक तरह से प्रकाशित नहीं कर पाएगा। दर्पण मैला हो तब भी बिम्ब स्पष्ट नहीं होगा किन्तु दर्पण शांत और स्वच्छ हो तो प्रकाश भी ठीक होगा और सब कुछ जैसा है वैसा नजर आएगा।

सत्वगुण से प्रकाशित मन बुद्धि स्वच्छ भी होते हैं और शांत भी अत: उस समय जो प्रकाश निकलेगा वह शुद्ध स्थिर होगा। वह ज्ञान का अलोक

होगा जो अपने सत्य स्वरूप का ज्ञान कराएगा। किन्तु जब मन प्रतिक्षण उमड़ती घुमड़ती कामनाओं के चक्कर में पड़ा है तो वह अशान्त और विक्षिप्त होता है। उसे लगता है कि मैं शांत तभी हो पाऊंगा जबकि ये कामनाएं पूरी हो जाएंगी इसलिए उन्हें पूरी करने के प्रयास में वह संसार में इधर-उधर हाथ पैर मारता है, सर पटकता है। पर कामनाओं का स्वभाव पूर्ण होकर शांत होना होता ही नहीं। उनका तो स्वभाव ही रक्तबीज राक्षस के रक्त की भांति होता है। एक पूरी हो तो सौ उत्पन्न होगी। इस प्रकार रजस से लोभ की उत्पत्ति हो जाती है।

तमस तो बुद्धि पर मैल की परत की भांति है। मैले दर्पण में प्रतिबिंब दिखना ही बन्द हो जाता है। तमस से अच्छादित बुद्धि को तो कुछ सूझता ही नहीं क्या सही है क्या गलत, क्या करना चाहिए क्या नहीं। अज्ञान के कारण प्रमाद और मोह उत्पन्न होने लग जाते हैं। जो सोचते हैं वह मोहमय, जो करते हैं प्रमादमय होता है।

अंत में तीनों गुणों का तुलनात्मक विवेचन करते हुए कहते हैं:-

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ।।१८।।

सत्व में स्थिर मनुष्य ऊपर जाता है, राजसिक मध्य में रहता है और तामसिक जघन्य गुण और वृत्ति में स्थिर हो कर नीचे गिरता है।

प्रस्तुत श्लोक में बताए गए तीन स्तर प्राणी जगत के विकास के तीन स्तरों को दर्शाते हैं। यहां विकास का अर्थ है अधिक चेतनाशीलता, अधिक विवेक तथा शांति। विकास की सीढ़ी में निम्नतम हैं जड़ वस्तुएं जिनमें चेतनशीलता ही शून्य है अतः बाकी दोनों का प्रश्न नहीं उठता। इसके बाद पेड़-पौधों का स्थान है जहां चेतना अपने न्यूनतम रूप में अभिव्यक्त होती है। पशुओं में चेतना क्रमशः बढ़ती गई और विकास की सीढ़ी पर सबसे आगे खड़ा हो गया मनुष्य-पूर्णतः चेतनशील तथा विवेक से युक्त। वही है जो अपने मन की मांग को ठुकरा देने की सामर्थ्य रखता है। वही है जो आहार, निद्रा, भय, मैथुन की मांग से ऊपर उठ कर जीवन का कोई लक्ष्य निर्धारित कर

सकता है और इसके लिए शरीर की भोगेच्छा तो क्या मूल आवश्यकताओं तक को अनदेखा कर सकता है।

इस प्रकार निम्नतम तो जड़ पदार्थों को, उच्चतम हम मनुष्य को कह सकते हैं पर इसमें एक और विचारणीय बिंदु आ जाता है-शांति का। मनुष्य में चेतनशीलता और विवेक तो उच्चतम स्तर पर होते हुए भी शांति में कमी है। उसकी अशांति का कारण है लोभ की प्रवृत्ति, जो रजस की देन है। यदि रजस को जीत ले, राग और तृष्णा रूपी उसकी सेना को हरा दे तो निश्चित ही वह मानव महामानव बन जाए।

इस प्रकार क्रियाशीलता रूपी रजस बीच में खड़ा है, यदि सत्वगुण इस पर अपना प्रभाव दिखाना आरम्भ कर दे यानी मन और बुद्धि विवेक के द्वारा संचालित होने लगे तो मनुष्य ऊंचा उठ जाए औरा यदि तमस इस पर हावी होना शुरू कर दे यानी विवेक का स्थान मोह लेने लगे तो मनुष्य नीचे गिर जाए।

भगवान इन बातों को बार-बार दोहरा कर विभिन्न ढंग से इसलिए कह रहे हैं कि अपने स्वभाव को पहचानना और अपने मन की गति को समझना बहुत-बहुत जरूरी है। हम अपनी यात्रा वहीं से शुरू कर सकते हैं जहां हम अभी हैं। अपनी वर्तमान अवस्था को समझें। तीनों गुणों के प्रभाव को समझें। सत्व की महिमा पहचानें और उसकी वृद्धि के लिए विकास करें।

क्या रजस-तमस को न्यूनतम कर सत्व का विकास करना ही मानव विकास का चरम लक्ष्य और हमारी परम गति है? देखें भगवान क्या कहते हैं।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ।।१९।।

जब मनुष्य तीनों गुणों के सिवाय अन्य किसी को नहीं देखता अपने को गुणों से परे जानता है तब वह मेरे भाव को प्राप्त होता है।

स्पष्ट है कि परमात्म भाव अर्थात् जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त

करना है तो केवल सत्व की यथासंभव वृद्धि कर लेना पर्याप्त नहीं, हमें सत्व से भी परे उठना होगा।

भगवान ने जब तीनों गुणों का विभाजन-विवेचन आरंभ किया तभी सबसे पहले यही बात कही थी- तीनों गुण बांधने वाले हैं। फिर बताया था कि सत्व सुख और ज्ञान के द्वारा बांध देता है। इसके बाद जब रजस-तमस का विवेचन आरंभ हुआ तो सत्व उत्तम लगने लगा और क्रमशः इसका इतना महिमागान हो गया कि हम भूल गए कि सत्व भी बंधनकारी है। हम अपने अंदर की जाग्रत राजसिक और तामसिक प्रवृत्ति का अवलोकन करने लगे। सुप्त तत्व को पहचानने की कोशिश करने लगे। हममें जो सचमुच साधना करना चाहते हैं वे विचार भी करने लगे कि जीवन पद्धति में क्या-क्या परिवर्तन किया जाए कि हमारी प्रवृत्तियां पूर्णतः सात्विक हो जाएं। सत्व को भगवान ने सबसे ऊंचा स्थान जो दिया है।

ठीक इसी स्थान पर हमारे कुशलतम गुरु श्रीकृष्ण हमें चेता देते हैं कि सत्व श्रेष्ठ अवश्य है पर यह भी बंधनकारी। यदि हम ध्यान नहीं रखेंगे तो इसके भी बंधन में फंस जायेंगे। वे कहते हैं कि यदि लक्ष्य निर्धारित करना है तो यह करो कि तीनों गुणों को द्रष्टाभाव से देख पाओ, अपने को इनसे अलग कर पाओ, यह जान पाओ कि जो कुछ भी क्रियाएं हो रही हैं वे सब इन गुणों का खेल है, मैं इनसे परे नित्य शुद्ध बुद्ध आत्मा हूं। मैं कर्ता नहीं द्रष्टा मात्र हूं। जब द्रष्टा भाव स्थापित करने की कोशिश करेंगे तो कर्ता भाव अपने आप लुप्त हो जाएगा, तब समझ में आएगा कि सारी क्रियाएं इन गुणों का खेल है और कुछ नहीं।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

देहधारी देह को उत्पन्न करने वाले इन तीनों का अतिक्रमण करके जन्म, मृत्यु और वृद्धावस्था रूप दुःखों से रहित हुआ अमरता अनुभव करता है।

निष्क्रियता, सक्रियता और अक्रियता की वृत्तियां उत्पन्न करने वाले

तीनों गुण मन बुद्धि तक ही खेलते हैं, इनसे ऊपर आत्मा तक इनकी पहुंच नहीं। लेकिन हम लोगों के साथ दिक्कत यही है कि हमें भी मन बुद्धि के बीच ही खेलना अच्छा लगता है और इन गुणों के साथ ऐसी सांठ-गांठ हो जाती है इन्हें छोड़ने का मन नहीं करता। इन्हीं के साथ खेलते हुए कभी हम घोड़ा बनते हैं कभी हाथी। कभी चोर बनते हैं कभी सिपाही। कभी राजा बनते हैं कभी रंक। कभी बूढ़े का रोल अदा करते हैं कभी मर भी जाते हैं। फिर दूसरे ही क्षण जी भी उठते हैं। झगड़ा, मारपीट, रोना, हंसना, गाना, कूदना, चलता रहता है। इसी में शाम हो जाती है और तक गीता माता आवाज देती है- 'पुत्र कब तक यूं ही खेलते रहोगे। कब तक यूं ही बच्चे बने रहोगे। छोड़ो खेल अब तो। अब वह करो जो तुम्हें करना है। घर लौटो अब।'

माता की बात सुन कर हममें से जो खेल छोड़ कर घर लौटने को तैयार हो जाता है उसके लिए 'घर' के दरवाजे चौड़े खुले हैं। यह एक ऐसा घर है जहां खेल की मैदान की सी उत्तेजना नहीं। यहां तो परम शांति है। इस घर में घोड़ा हाथी बन कर किसी का बोझ नहीं ढोना। चोर बनकर हथकड़ियां नहीं लगवानी। मित्र के कोड़े नहीं खाने। यहां तो भरपूर आराम है। यहां मजा नहीं, यहां तो अत्यधिक सुख है। जैसे बालक सोचता है कि जहां उत्तेजना नहीं, जहां घोड़ा हाथी चोर सिपाही बनने की नित्य नवीनता नहीं, जहां मजा नहीं, वहां क्यों जाएं? हम भी सोचते हैं संसार के रस देने वाले सुखों को छोड़ देंगे तो रहेगा ही क्या? हम घर लौटने को तैयार नहीं होते। दोस्त अच्छे हों या बुरे हों, उनके साथ खेलते रहना है हमें और भगवान कह रहे हैं छोड़ो इनका संग। अच्छे बुरे की दलील मत दो। अच्छे दोस्त भी तुम्हें जकड़े रहेंगे तो तुम्हारा नुकसान तो होगा ही।

अर्जुन को बात समझ में नहीं आई। खेल का मैदान छोड़ घर लौट जाने की बात सुनने में अच्छी तो लगती है पर कैसे कोई रह सकता है खेले बिना! कैसा व्यवहार होगा उसका? कैसे छोड़ा जाए खेल का लाभ?

अर्जुन उवाच

कैर्लिंगैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ।।२१।।

हे प्रभु! गुणों का अतिक्रमण किए हुए पुरुष के क्या लक्षण होते हैं? वह किस प्रकार का आचरण करता है? वह इन गुणों से परे किस प्रकार जाता है?

गीता हमें जीवन की कला सिखाती है। यह केवल राम राम जपने का उपदेश नहीं देती, राम अर्थात् आनन्द को प्राप्त करने का व्यवहारिक उपाय बतलाती है। गीता का आदर्श पुरुष ज्ञानी हो या भक्त या कर्मयोगी, ध्यान योगी, कुछ भी हो उसे संसार छोड़ कर हिमालय में नहीं रहना, सबके बीच, जीवन के सारे उतार चढ़ाव के बीच, जिन्दगी की तमाम नेकी बदी के बीच उसे अपनी समरसता बनाई रखनी है। भगवान यदि केवल गुणों को पार कर गुणातीत होने का उपदेश देकर छोड़ देते तो हमारा ज्ञान अधूरा रह जाता। अधूरा ज्ञान बहुधा गलत भी साबित हो जाता है। हम सोचते हैं कि समस्त वस्तुएं त्रिगुणात्मिका हैं अतः तीन गुणों से परे जाने का अर्थ इन सबका त्याग करना है। सोचने लगते हम बाबाजी बनने की बात।

ठीक इसी वक्त भगवान वेदव्यास जी की लेखनी हमारे विचार प्रवाह को रोक देती है। अर्जुन के प्रश्न के माध्यम से हमारे अन्दर भी प्रश्न जगाने और उसके विषय में विचार करने को बाध्य कर देती है। बहुत बार ऐसा होता है कि कुशल वक्ता हो तो हम उसके वक्तव्य में ऐसे बह जाते हैं कि स्वतंत्र चिंतन बंद हो जाता है। उसके वक्तव्य के अधूरेपन को या छिद्रों को हम समझ नहीं पाते। इसीलिए गीता प्रश्नोत्तर शैली में है। व्यास देव जी समझ रहे हैं कि हमारे मन में ये प्रश्न उठने चाहिए। यदि हम भगवान की वाणी सुन कर अभिभूत हो गए हैं, अपने से कुछ सोच पा नहीं रहे तो लीजिए अर्जुन के प्रश्न आपको सोचने पर विवश कर देंगे।

अर्जुन ने तीन प्रश्न पूछे हैं। १. गुणातीत के लक्षण क्या है? अर्थात् हम कैसे पहचानें कि हम गुणों से परे जा रहे हैं। २. गुणातीत का आचरण व्यवहार कैसा होता है? ३. गुणों से परे जाने की व्यवहारिक तकनीक क्या है?

इन प्रश्नों से स्पष्ट है कि गुणातीत को समाज के बीच ही रहना है, ऐसे लोगों के बीच ही रहना है जो रजस तमस सत्व के फन्दों में फंसे हुए

हैं। गुणों से दूर जाने को गुणों से परे जाना नहीं कहते, गुणों के बीच व्यवहार करते हुए भी उनसे असंग रह पाने को गुणों से परे जाना कहेंगे।

भगवान अगले श्लोक में अर्जुन के पहले प्रश्न का उत्तर देते है अर्थात् गुणातीत के लक्षण बताते हैं।

श्री भगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ।।२२।।

हे पाण्डव! प्रकाश प्रवृत्ति तथा मोह-ये सभी अच्छी तरह प्रवृत्त हो जाएं तो उनकी इच्छा नहीं करता और न ही उनसे निवृत्ति पाने की आकांक्षा रखता है।

अच्छा से अच्छा साधक, सावधानीपूर्वक, लगन, निष्ठा और श्रद्धा के साथ साधना मार्ग पर चल कर आत्मोद्धार के लिए प्रयत्न करने वाला व्यक्ति भी यह भूल कर बैठता है कि जब बुरे विचार अपने मन में उठते दिखाई देते हैं तो अपने आप को कोसना आरंभ कर देता है। जब विवेक पूर्ण कर्म होते हैं तो अपने आप को शाबाशी देता है- 'मेरी साधना अच्छी चल रही है।' यह कोसना और सराहना दोनों ही साधक के लिए बाधक हैं, यह बात भगवान यहां स्पष्ट कर देना चाहते हैं।

अभी तक हमने कर्मयोग सीखा, ज्ञानयोग, ध्यान योग, भक्ति योग, समर्पण योग सब सीखा। सीखने के साथ-साथ उनका अभ्यास भी किया। काफी उन्नति भी हुई। फिर भी फल की इच्छा पूरी तरह तो जा नहीं रही। किसी को सौ रुपए दिए तो यह सोच कर तो नहीं दिए कि मौका मिला तो बच्चू से सौ की जगह दो सौ ऐंठ लेंगे। दो सौ तो क्या दो रुपए भी वापस नहीं चाहें पर कभी यदि हमें उससे छोटा सा काम पड़ गया और उसमें भी वह मुंह फेर ले तो बुरा तो लगता ही है। फिर मन में यह भी विचार आता है कि 'क्या तुमने बदला चाहकर उपकार किया था उसका? तुम्हें ऐसा नहीं सोचना चाहिए। कोई कुछ करे ना करे, तुम्हें उससे क्या? तुम्हें तो निष्काम

कर्म की साधना करनी है। लेकिन क्या करूं, मन के विचार पीछा छोड़ते ही नहीं।' इस प्रकार सोच-सोच कर हम अपने आपको इतना परेशान कर लेते हैं कि डिप्रेशन होने लगता है और हम साधना के योग्य भी नहीं रह जाते।

ध्यान योग की साधना ले लें। पहले तो उत्साह के साथ ध्यान लगाना शुरू किया। कभी शांत होकर बैठते ही नहीं थे अत: जरा भी शांति मिली तो लगा बहुत अच्छा कर रहे हैं हम। उत्साह बढ़ा। अब लगता है-'कुछ तो नहीं हो रहा। मन तो वैसे का वैसे भागता है। मन की भटकन के प्रति हम पहले जागरूक थे नहीं, वह भाग रहा है यह जान ही नहीं पाते थे अत: मस्त थे। अब तो क्षण-क्षण पता चल रहा है कि मन कैसा दुष्ट है, पर क्या करें, कुछ समझ में नही आता। निराश हो गए हम तो मन को काबू में लाने का प्रयत्न करते-करते। विषय भोग की लालसा पिंड ही नहीं छोड़ती।' इस प्रकार सोच-सोच कर ध्यान से हमारी विरक्ति होती जाती है।

ज्ञान योग की बात ले लें। सबमें एक परमात्मा है यह बात कितनी तरह से समझा कर भगवान ने कही है पर क्या करें किसी में परमात्मा दिखाई ही नहीं देता। विभूति भी नहीं दीखती। संसार में दुष्टता ही दुष्टता नजर आती है। कितनी कोशिश करते हैं कि किसी के गुण, दोष न देखे, यह समझे कि यह भी हमारा स्वरूप है पर सोचते रह जाते हैं, कुछ नहीं होता।

भक्त की स्थिति देखें। भगवान मेरे स्वामी हैं, मैं उनका दास हूं। वे नचाने वाले हैं मैं कठपुतली हूं। मेरा अपना कुछ नहीं सब उन्ही का है। मेरे सुख-दुख भी सब उन्हीं का प्रसाद है, इसमें हंसने रोने की बात ही नहीं। पर क्या करूं? कभी जब यह विचार दृढ़ रहता है तो कितना आनन्द मिलता है यह मैंने स्पष्ट अनुभव किया है फिर भी मन फिसलता रहता है। मैं-मेरा का भाव जाता ही नहीं। मैं इतना कृतघ्न हूं कि मुझे मेरे स्वामी सब कुछ देते हैं फिर भी आज मेरी बेटी ससुराल से आई तो उसके मोह में फंस कर मैं उनकी पूजा करना तक भूल गया। बड़ा प्रमादी हूं मैं।

इसी प्रकार गीता के तेरहवें अध्याय तक विभिन्न योगों का ज्ञान प्राप्त कर उनका अभ्यास करने वाला साधक विभिन्न मन: स्थितियों से गुजरता रहता है। कभी तो उसे लगता है कि साधना अच्छी हो रही है, चित्त प्रसन्न रहता

है कभी उसे लगता है 'हाय यह क्या हुआ, मेरा भक्ति भाव कहां चला गया? मेरे मन में विषयों के प्रति इतना काम पैदा क्यों हो गया।' इस प्रकार वह सद्वृत्तियों को बनाए रखना चाहता है और राजसी-तामसी प्रवृत्तियों के आने पर जल्दी से जल्दी उनसे छुटकारा पाना चाहता है। भगवान कहते हैं कि ऐसे विचार ठीक नहीं। मन में ज्ञान का प्रकाश हो या सांसारिक राग अथवा मोह, न अपनी किसी स्थिति को बनाए रखने के लिए व्याकुल रहें न किसी स्थिति को दूर करने के लिए।

गुणातीत किसी भी गुण विशेष के प्रति राग या द्वेष नहीं करता तो क्या करता है? कैसा व्यवहार होता है उसका इनके प्रति? भगवान बताते हैं:-

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेंगते ।।२३।।

जो उदासीन की तरह स्थित है और जो गुणों के द्वारा विचलित नहीं होता। गुण ही गुणों में बरत रहे हैं इस भाव से जो अपने स्वरूप में ही स्थिर रहता है और विचलित नहीं होता।

विभिन्न वृत्तियां बनी रहे या चली जाएं यह भाव तभी आता है जब कि हम उन्हें अपना मानकर उनमें फंस जाते हैं। गुणातीत इन व्यक्तियों को अपना नहीं मानता अत: उनका आना-जाना देखता रहता है। कभी मन बड़ा प्रसन्न होगा, कभी क्रोध आ जायेगा, कभी नींद आएगी पर इन वृत्तियों के अनुरूप व्यवहार करता हुआ भी इनमें लिप्त नहीं होगा। गुस्सा आया, कर भी लिया तो फिर खत्म। वह हमारी भांति उसे पुष्ट करने या उसे दूर करने की कोशिश कर परेशान नहीं होगा।

हम घर के बरामदे में खड़े हों तो सैकड़ों लोगों का आना-जाना देखते हैं। मारपीट की घटनाएं भी होती हैं, कभी-कभी हमारी उसमें अनायास भागीदारी भी हो जाती है, हम बीच-बचाव ही करने जाते हैं पर इनमें लिप्त नहीं होते। पांच मिनट बाद हमें याद भी नहीं रहता कि कैसे-कैसे चेहरे हमने देखे। लेकिन कोई अपना प्रिय आता है तो हमारी बांछे खिल जाती है, हम हाथ फैलाकर मिलने दौड़ते हैं। जब वह जाता है तो हम यह नहीं सोच पाते कि थोड़ी देर

के लिए आनेवाला मेहमान तो आखिर जाएगा ही, हम उसे रोके रखने के प्रयत्न में दुखी हो जाते हैं। इसी प्रकार वृत्तियों के प्रति 'मेरा' का भाव जिनको नहीं रहता उनके लिए कैसी भी वृत्तियां आए या जाए उसे कोई फर्क नहीं पड़ता। हम यदि सड़क पर डंडा ले कर बैठ जाएं कि आज तो किसी गुण्डे को इधर से गुजरने नहीं देंगे तो लोग हमें ही गुण्डा कहने लगेंगे। 'सड़क है तो सभी प्रकार के लोग आएंगे-जाएंगे ही, तुम उनसे उलझते क्यों हो, तुम चुप चाप बैठे देखो न उन्हें।'

इसी प्रकार जब त्रिगुणात्मिका प्रकृति से तुम्हारा मन बुद्धि बना है तो वह त्रिगुणात्मिका प्रकृति से बनी अन्य वस्तुओं में उलझेगा ही। तीनों गुण अपनी-अपनी वृत्तियां उत्पन्न करेंगे ही, हर वक्त एक सी वृत्ति बनी रहे यह संभव है ही नहीं तो क्यों परेशान होते हो। आने-जाने दो उन्हें। तुम तटस्थ रहो, उदासीन रहो। तुम यही सोचो कि गुण ही गुणों के साथ मिलकर विभिन्न प्रकार के खेल दिखा रहे हैं। इन खेलों को द्रष्टा भाव से देखो जैसे तुम घर की बालकोनी से सड़क में जुलूस जाता देखते हो।

एक तो वृत्तियों का होना होता है और एक वृत्तियों का करना होता है। दोनों में बड़ा फर्क है। संसार में जो होता है उसकी जिम्मेवारी हम पर नहीं होती, जो हम करते हैं उसी के लिए जिम्मेवार होते हैं। इसी प्रकार देखना और दिखना, दोनों में बहुत फर्क है। बहुत चीजें हमारी आंखों के सामने से गुजर जाती है। हम उदासीन रहते हैं तो वे दिखती हैं पर अपना व्यापक प्रभाव नहीं छोड़ती। किन्तु जब हम उन्हें देखने लग जाते हैं तो वे हमारे अन्तर मन तक उतरकर हमें प्रभावित करती हैं। दोष 'देखने' में होता है 'दिखने' में नहीं।

साधक को अपने अन्त:करण में खराब से खराब वृत्ति भी दिख जाए तो उसे घबराना नहीं चाहिए। अपने आप दिखनेवाली (होने वाली) वृत्तियों से राग द्वेष करना अर्थात् उनके अनुसार अपनी स्थिति मानना ही उनको देखना है। हमसे यही भूल होती है, वृत्तियों को हम देखते हैं और उनमें ऐसे फंस जाते है कि छुटकारा नहीं मिलता।

इस प्रकार वृत्तियों के साथ गुणातीत व्यक्ति कैसा व्यवहार करता है यह बताने के बाद अब भगवान अगले दो श्लोकों में बताते हैं कि संसार

की अन्य वस्तुओं-प्राणियों के प्रति उसका व्यवहार कैसा होता है।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्य निन्दात्मसंस्तुतिः ।।२४।।

जो धीर सुख-दुख में सम, अपने स्वरूप में स्थित, मिट्टी के ढेले, पत्थर और सोने के प्रति सम रहता है, जो प्रिय और अप्रिय तथा निंदा और स्तुति के प्रति समता रखता है-

याद करें कि भगवान ने दूसरे अध्याय में स्थितप्रज्ञ के लक्षण अत्यन्त विस्तार से बताए थे, फिर बारहवें में भक्त के बताए, तेरहवें में ज्ञानी के बताए और चौदहवें में गुणातीत के लक्षण बता रहे हैं जो बिल्कुल एक है। तात्पर्य यह है कि उच्चतम शिखर तो एक ही होगा हम जाएं चाहे किसी भी मार्ग से। गुणातीत पुरुष यदि क्रोध के प्रति जागरुक नहीं होगा तो इसका अर्थ यह नहीं कि वह क्रोधी स्वभाव का हो जाएगा। क्रोध के प्रति उसकी उदासीनता उसे क्रोध से परे ले जाएगी। लोगों के प्रति उदासीनता उसे राग द्वेषों से परे ले जाएगी और वह उसी स्थिति को प्राप्त कर लेगा जिसे एक स्थितप्रज्ञ या भक्त प्राप्त करता है।

यह स्थिति मृत्यु की नहीं है, यह जड़ता की भी नहीं है। यह स्थिति तो अहंकार की मृत्यु की है जिसके कारण हम हमेशा ही प्रेम-घृणा, पसंद-नापसन्द, अनुकूल-प्रतिकूल के द्वंद्वों के थपेड़े खाते रहते हैं। इन सब बाहरी संवेगों के प्रति गुणातीत का व्यवहार देखें-

सम दुखः सुखः- पूर्व कर्मों के अनुसार अनुकूल प्रतिकूल परिस्थितियां आती हैं तब हम सुख या दुख का अनुभव करते हैं। सुख या दुःख परिस्थितिगत प्रतीत होते हैं किन्तु वास्तव में व्यक्तिगत है। ये मन की विभिन्न परिस्थितियां है जो परिस्थिति की प्रतिक्रिया स्वरूप प्रकट होती है। यह इस बात से स्पष्ट है कि एक ही बात की परिस्थिति कभी हमें सुखी बना देती है कभी दुखी। रुचि न हो तो स्वादिष्ट भोजन भी दुखदायी लगता है। जिस संगीत में हम मस्त हुआ करते हैं काम के समय वही खराब लगने लगता है। गुणातीत चूंकि मन बुद्धि के साथ रमता नहीं अतः सुख-दुःख की

परिस्थितियां आते हुए भी उसका धैर्य नहीं जाता। क्रिया रूप से उनका सामना करते हुए भी मानसिक रूप से वह सम रहता है।

धीरः–प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अपना संतुलन बनाए रखने के कारण गुणातीत व्यक्ति धैर्यवान कहलता है।

सम लोष्टाम काञ्चनः– हमें बड़ी सी बात मालूम होती है कि मिट्टी पत्थर और स्वर्ण को समान कैसे माना जाए। ऐसा इसलिए होता है कि स्वर्ण के प्रति हमारी महत्व बुद्धि है, ललक है। यदि हमसे कहा जाए कि यहां एक मिट्टी का बंदर है एक चाभी की रेल या एक गुब्बारा है, तुम क्या लोगे तो हम कहेंगे जो भी दे दो क्या फर्क पड़ता है। हमारे बगल में खड़ा एक बच्चा सोचेगा– 'हैं! मिट्टी का बंदर और चाभी की रेल, दोनों में कोई अंतर नहीं इसके लिए! कैसे हो जाता है ऐसा?' किन्तु हम खिलौने के आकर्षण से ऊपर उठ चुके हैं। इस लिए हमें यह सहज लगेगा। गुणातीत को भी मिट्टी सोना एक लगता है क्योंकि इनमें उसका आकर्षण नहीं। इसका मतलब यह नहीं कि मिट्टी को लॉकर में रख लेगा स्वर्ण को जमीन पर फेंक देगा। उपयोगिता के अनुरूप व्यवहार करते हुए भी दिल में कोई आकर्षण–विकर्षण न रखना ही समता है।

स्वस्थः–स्वस्थ का अर्थ निरोग नहीं है। स्व+स्थ का अर्थ है अपने आप में स्थित रहना। त्रिगुणात्मिका प्रकृति की वस्तुओं के प्रति अनुराग–विराग न होने के कारण गुणातीत व्यक्ति इधर–उधर छटपटाता नहीं। यही उसका अपने स्वरूप में स्थिर रहना है, अपने को गुणों से भिन्न उनका द्रष्टा समझना है।

तुल्य निदात्म संस्तुतिः–साधारण मनुष्यों की तो निंदा की जाए तो उसे बुरा लगता है, स्तुति अच्छी लगती है किन्तु ये दोनों ही दूसरे के द्वारा की गई क्रियाएं हैं। जिसका जैसा स्वभाव है, जैसी धारणा है उसी के अनुसार वह बोलगा। हमारा यह सोचना गलत है कि सब हमारे अनुकूल ही बोलें, हमारी बुराई न करें। गुणातीत को निंदा स्तुति का ज्ञान तो होता है पर उसके कारण खिन्नता–प्रसन्नता नहीं होती क्योंकि वह इन बचकानी बातों से ऊपर उठ गया है। छोटे बच्चे को दूसरा जीभ दिखा देता है, अंगूठा दिखा देता है और वह रोने लगता है तब तो हम बड़े सहज भाव से कह देते हैं– अंगूठा दिखाया तो तुम्हारा क्या हो गया? जीभ दिखाया तो उसकी जीभ बुरी कहलाएगी।

तुम तो अच्छे हो, तुम मत रोओ। हमें अधिकार नहीं कि हम दूसरों से अपेक्षा रखें कि 'तुम हमारी निंदा न करो स्तुति ही करो।'

तुल्य प्रियाप्रिय:-व्यक्तियों की भांति कोई वस्तु भी हमारे लिए अनुकूल या प्रतिकूल हो सकती है। जो वस्तु हमें सुखदायी जान पड़ती है वह प्रिय लगती है अन्यथा अप्रिय। जो सुख दुख में ही सम है उसके लिए भला प्रिय अप्रिय का भेद कहां?

गुणातीत के विषय में और आगे भगवान कहते हैं-

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्ररिपक्षयो: ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीत: स उच्यते ।।२५।।

जो मान अपमान में तथा शत्रु-मित्र के पक्ष में सम रहता है, जो सम्पूर्ण कर्मों के आरंभ का परित्यागी है वह मनुष्य गुणातीत कहलाता है।

मानापमानयोस्तुल्य:- मान अपमान का निर्धारण करने वाली बुद्धि होती है। वही मान पाकर पिघलती और अमान पाकर तनती है। गुणातीत का तादात्म्य तो मन बुद्धि से होता नहीं क्योंकि इनको तो वह गुणों का खेल मानता है। स्वयं को इनसे भिन्न समझ कर मन बुद्धि के खेल को निर्लिप्त होकर देखना उसका स्वभाव बन चुका है अत: मान अपमान उस पर प्रभाव नहीं डाल पाते।

तुल्यमित्ररिपक्षयो:-मित्र और अरि यानी शत्रु के पक्ष में समान रूप से व्यवहार करना गुणातीत का आचरण है। गुणातीत स्वयं तो किसी से शत्रु भाव रखेगा ही नहीं पर यदि दो व्यक्ति ऐसे हो कि उनमें से एक उसका भला चाहने वाला हो दूसरा अनिष्ट चाहने वाला और किसी मामले में उसे उनकी मध्यस्थता करनी पड़े तो वह मित्र का पक्षपाती नहीं होगा। गुणातीत के व्यवहार के ये सब लक्षण स्पष्ट करते हैं कि गीता का आदर्श पुरुष संसार त्यागी साधु नहीं वरन् समाज और परिवार के बीच रह कर भी अनासक्ति का भाव रखने वाला मनुष्य है।

सर्वारम्भपरित्यागी:-सम्पूर्ण कर्मों के आरम्भ का परित्यागी कहने का

यह तात्पर्य नहीं कि गुणातीत कोई कार्य आरम्भ ही नहीं करता। यह तो अर्थ का अनर्थ हुआ। यदि यही आशय होता तो भगवान कर्म-परित्यागी कह देते क्योंकि आरम्भ न हो तो कोई कर्म होगा ही नहीं। सर्वारम्भ परित्यागी का तात्पर्य यह है कि कार्य होता है लेकिन उसे आरम्भ करने का श्रेय गुणातीत स्वयं नहीं लेता। वह यह नहीं सोचता कि यह काम मैंने किया है। यह कर्ता भाव का त्याग है। गुणातीत कर्म 'करता' नहीं उसके कर्म 'होते' हैं।

शायद हमें यह व्यवहारिक नहीं लगे कि सब कुछ करते हुए भी मैंने किया यह सोचे बिना कैसे रहा जा सकता है। अथवा मैंने किया सोचे बिना कर्म किये कैसे जा सकते हैं। हम अपनी दिनचर्या देखें तो सुबह से लेकर रात तक हमने असंख्य कार्य किए। बिस्तर छोड़ा, बाथरूम में गए, बैठे, उठे, मुह धोया, बाहर निकले इत्यादि। क्या कभी इन सबके लिए हमारे मन में आता है कि मैंने किया। हमारे ये कार्य होते हैं हम करते नहीं क्योंकि इन कार्यों में मन बुद्धि का विशेष प्रयत्न नहीं। किन्तु किसी को पचास पैसे भी दिए या दस मिनट भी दूसरे के लिए कुछ करने का हमारे मन का सहज स्वभाव नहीं है। उसे बलात् करना पड़ा इसीलिए उसे बार-बार याद आती है। जो आलसी स्वभाव के हैं उन्हें अपने लिए भी एक ग्लास पानी भी लेना पड़े तो तकलीफ का अनुभव करते हैं लेकिन चुस्त व्यक्ति के लिए यह कोई काम ही नहीं। गुणातीत तो तमस रजस सत्व तीनों से परे हैं अत: न तो उसे आलस है, न अपने लाभ का विचार न दूसरे के कल्याण अकल्याण का भाव। वह चुस्त है, नि:स्वार्थ है, अपने और पराए की भावना से परे है अत: स्वाभाविक ही उसके कर्म कुशल के साथ-साथ सहज होंगे।

इस प्रकार गुणातीत के आचरण के संबंध में बताने के बाद भगवान अर्जुन के तीसरे और अंतिम प्रश्न का उत्तर देते हैं कि गुणातीत की अवस्था कैसे प्राप्त की जा सकती है।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।२६।।

जो मनुष्य अव्यभिचारी भक्तियोग के साथ सेवा करता है वह इन गुणों का अतिक्रमण करके ब्रह्म प्राप्ति का पात्र हो जाता है।

अर्जुन को भगवान ने उन्नीसवें श्लोक में ही बता दिया था कि विवेकी पुरुष तीन गुणों के अलावा किसी को कर्ता नहीं देखता और अपने को इनसे परे मानता है वह गुणातीत हो जाता है। यह गुणातीत होने के लिए ज्ञान मार्ग है।

इसके बाद भी अर्जुन ने प्रश्न किया कि गुणातीत कैसे बनें तो इसका मतलब यह है कि अर्जुन के हृदय में वह मार्ग बैठा नहीं। वह तो भावुक था और योद्धा था। उसके लिए भक्ति या कर्म योग ही उपयुक्त है इसलिए भगवान उसकी पात्रता के अनुसार इस श्लोक में जो मार्ग बता रहे हैं वह भक्ति और कर्म का सुन्दर संगम है।

गुणातीत होने का उपाय है अव्यभिचारी भक्ति के साथ सेवा। इसे बहुत ही अच्छी तरह समझना अवश्यक है। व्यभिचारी वह होता है जिसका कोई एक स्वामी न हो, वह प्रतिदिन भिन्न-भिन्न स्त्री या पुरुष के साथ रहे। इसमें मुख्य उद्देश्य धन या अन्य सांसारिक कामनाओं की पूर्ति होता है। व्यभिचार से क्षणिक मजा मिल सकता है किन्तु सुख शांति नहीं। इसी माने में पुत्र, धन, व्यवसाय, शत्रुनाश आदि की इच्छा से भिन्न-भिन्न देवी देवताओं को प्रसन्न करने के लिए पूजा-पाठ हवन आदि करना व्यभिचारिणी भक्ति है। यह सांसारिक उपलब्धियां तो दिला सकती है पर आत्मिक शांति नहीं। हमारा उद्धार नहीं हो सकता इससे। गीता में भक्ति की बात जहां आई वहां अव्यभिचार शब्द का उल्लेख हुआ है। यही अर्थ अनन्य भक्ति का है। इसका अर्थ यह है कि हमारे और हमारे स्वामी के बीच कोई अन्य नहीं। उन्हीं से मांगना है और उन्हीं को मांगना है। उससे ही मांगें पर यदि कुछ और मांग बैठे तब भी तो हमारे बीच 'वह' आ जाएगा। हमारी सम्पूर्ण चेतना, हमारी सम्पूर्ण कामना, हमारे सम्पूर्ण कर्म के रूप में प्रभु होने चाहिए, प्रभु ही होने चाहिए दूसरा कोई नहीं होना चाहिए।

इस श्लोक में भगवान अव्यभिचारी भक्ति के साथ सेवा करने को कह रहे हैं। कुछ लोग इसका अर्थ लगा लेते हैं कि ठाकुर जी की सेवा में अपना जीवन समर्पित कर दो, उन्हीं का भजन, पूजन, ध्यान, जप करो, उनके अनुकूल रहने का प्रयास करो। किन्तु विचार करें तो समझ में आएगा कि कितना भी भजन पूजन कर लें, किसी समय कुछ न कुछ तो दूसरे के लिए

या अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी करना ही होगा। वहीं तो अव्यभिचार का उल्लंघन हो जाएगा। अत: अव्यभिचारिणी भक्ति के साथ सेवा तभी संभव है जबकि जन-जन में हम अपने ठाकुर जी का दर्शन करें, जड़ या चेतन, हर मूर्ति में उन्हें ही देखें। तब हर कार्य उन्हीं की सेवा हो जाएगा। हर वक्त हमारे मन में यह भाव रहेगा कि हम परोपकार नहीं कर रहे अपने प्रभु की सेवा कर रहे हैं। भगवान कहते हैं कि इस प्रकार समर्पण भाव से सेवा करने वाला मनुष्य गुणातीत होकर ब्रह्म प्राप्ति की योग्यता प्राप्त कर लेता है।

भक्ति भाव से सेवा करने से सभी कर्म साधना बन जाते है। इससे हमारे मन का विक्षेप समाप्त होता है। वह निर्मल होता है यानी रजस और तमस का मल दूर होता जाता है तथा सत्व की वृद्धि होती है। सत्व की अधिकता ज्ञान का प्रकाश लाती है। साधक का ज्ञान अधिकाधिक दृढ़ होने लगता है कि मन बुद्धि तो उपाधियां मात्र है वह स्वयं ओंकार स्वरूप है और समाधि के चरम क्षणों में उसके जीव का भाव का अंतिम पर्दा हट जाता है, वह ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है।

इस श्लोक में भगवान ने कहा कि मेरे प्रति अव्यभिचारिणी भक्ति रखने वाला ब्रह्म प्राप्ति कर लेता है। यानी भक्ति तो करें कृष्ण की और प्राप्ति हो जाए ब्रह्म की।

ब्रह्मणे हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ।।२७।।

क्योंकि ब्रह्म, अविनाशी अमृत, शाश्वत धर्म और अखण्ड एकरस आनन्द का आश्रय मैं ही हूं।

मैं ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूं कहने का तात्पर्य ब्रह्म से अपनी अभिन्नता बताने में है। जैसे भोजन एक ही है। रसना की दृष्टि से वह स्वाद सुख है, नासिका की दृष्टि से सुगन्ध सुख। उसी प्रकार ज्ञान की दृष्टि ब्रह्म कह देते हैं भक्त की दृष्टि से भगवान कह देते हैं पर हैं दोनों स्वरूपत: एक ही। भगवान

कृष्ण अलग हैं और ब्रह्म अलग हैं ऐसा नहीं। भगवान कृष्ण ही ब्रह्म हैं, ब्रह्म ही भगवान कृष्ण हैं।

इसी प्रकार अमृत्व की प्राप्ति की बात जब कही जाती है तो भी समझ लें कि भगवान की प्राप्ति और अमृतत्व की प्राप्ति एक ही है। और जिसे भगवान की प्राप्ति हो गई उसके प्रत्येक कार्य धर्म युक्त ही होंगे। इसी प्रकार एकान्तिक सुख की प्राप्ति और भगवान की प्राप्ति भी एक ही बात है।

ब्रह्म कहो या कृष्ण कहो, कृष्ण कहो या ब्रह्म कहो, अमृत कहो या कृष्ण कहो, कृष्ण कहो या अमृत कहो, धर्म कहो या कृष्ण कहो, कृष्ण कहो या धर्म कहो, सुख कहो या कृष्ण कहो, कृष्ण कहो या सुख कहो एक ही बात है। सब एक ही तत्व है।

इस प्रकार श्री कृष्ण अर्जुन संवाद में गुणत्रय विभाग योग नामक चतुर्दश अध्याय पूर्ण हुआ।

ॐ तत् सत्